हृदय-श्मशान

(वंग-भाषा के एक प्रसिद्ध उपन्यास का हिंदी रूपांतर)

पंडित कात्यायनीदत्त त्रिवेदी।

हृदय-श्मशान

(वंग-भाषा के एक प्रसिद्ध पारिवारिक उपन्यास का
हिंदी-रूपांतर)

रूपांतरकार—

हिंदी के ख्यातनामा और लब्धप्रतिष्ठ लेखक

पं० कात्यायनीदत्त त्रिवेदी।

प्रकाशक—

नवलकिशोर बुकडिपो
हज़रतगंज, लखनऊ

मुद्रक
श्रीकेसरीदास सेठ
नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ

प्रथम बार १०००] सन् १६२४ [मूल्य ।=)



श्रीमान् ठाकुर युगलकिशोरनारायणसिंह ।

समर्पण

मेरे हृदय में जिनके लिए असीम अनुराग है ; मेरे साथ जिनकी मित्रता उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होती आई है ; मुझ पर जिन्होंने बहुत से उपकार किए हैं ; जिनकी शक्ति को मैं अपनी शक्ति मानता हूँ और मेरी समग्र शक्ति जिनके भृकुटि-विलास पर निछावर है ; जिनका मैं और जो मेरे हैं

उन्हीं

अपने अभिन्न मित्र

मातृभाषानुरागी और प्रसिद्ध हिंदी-साहित्य-शिल्पी

श्रीमान् ठाकुर युगलकिशोरनारायणसिंह महोदय

मैनेजर गौराराज्य-ज़िला रायबरेली

के

कर-कमलों में

यह पुस्तिका

सादर और सानुराग समर्पित है।

कात्यायनीदत्त त्रिवेदी

प्रेमोपहार

परिचय

हृदय-श्मशान एक पारिवारिक उपन्यास है। यह वंग-भाषा के इसी नाम के एक उपन्यास का हिंदी-रूपांतर है। आजकल के साहित्य-सेवी बँगला-उपन्यासों के अनुवाद से चिढ़ हुए-से हैं; उनका कथन है कि अनुवाद का युग गया, अनुवाद करना छोड़ो, नहीं तो हिंदी-साहित्य में मौलिक पुस्तकों की कमी ही बनी रहेगी और हिंदी-भाषा बँगला, मराठी आदि के मुक़ाबले वह उच्च स्थान न प्राप्त कर सकेगी, जो उसे प्राप्त करना चाहिए। हम इस कथन से सहमत हैं और हमारी राय में भी हिंदी-लेखकों को मौलिक पुस्तकें लिखने की ओर अधिक झुकना चाहिए। हर्ष का विषय है कि हिंदी में भी इस समय ऐसे उपन्यास और आख्यायिका-लेखक मौजूद हैं—चाहे उनकी संख्या उंगलियों पर गिने जाने योग्य ही क्यों न हो—जिनकी पुस्तकें बँगला और मराठी आदि में अनुवादित होने के योग्य मानी गई हैं। श्रीयुत प्रेमचंदजी को हम ऐसे लेखकों में प्रथम आसन देते हैं। अस्तु। फिर हमने हृदय-श्मशान का हिंदी-रूपांतर क्यों किया? इसे सहृदय पाठक इस पुस्तक को पढ़कर ही जान सकेंगे। हमारा विचार है कि किसी भी भाषा में लिखी हुई उच्च-विचारवाली उत्तम पुस्तकों के अनुवाद अथवा रूपांतर से हिंदी-साहित्य को वंचित न रखना चाहिए। अंगरेज़ी में आजकल जो कुछ साहित्य है वह सभी मौलिक नहीं, उसमें अनुवाद और रूपांतर की भी यथेष्ट संख्या है। संसार के अन्य भाषाओं के

साहित्य-सेवियों ने भी इसी प्रथा का अवलंबन किया है। "अनुवाद करना छोड़ो," इसका यही अर्थ है कि प्रवृत्ति को अनुवाद की ओर अधिक न बढ़ाओ, अथवा विना भली भाँति सोचे-समझे और पुस्तक की उपादेयता का विना अनुभव किए अनुवाद न करो। हृदय-श्मशान का हमने अनुवाद नहीं, रूपांतर किया है; नाम, ग्राम सभी बदल दिए गए हैं और पुस्तक सर्वथा हिंदी-भाषा-भाषियों के अनुरूप बना दी गई है। इसे पढ़कर पढ़नेवाले की यह धारणा नहीं हो सकती कि यह बँगला-पुस्तक का अनुवाद है। ऐसा होने पर भी मूल पुस्तक के भाव सर्वथा सुरक्षित हैं।

लेखक महोदय ने उपन्यास के पात्रों का चरित्र-चित्रण करने में बड़ी कुशलता से काम लिया है; हृदय के भावों के उत्थान और पतन का उन्होंने बड़ा अच्छा दृश्य दिखाया है। पारिवारिक कठिनाइयों के कारण, परिवार में परस्पर स्नेह और प्रेम न होने से जो दुर्घटनाएँ घटती हैं और गार्हस्थ-जीवन जिस प्रकार कटु और विषमय हो जाता है और चिंता के कारण हृदय, श्मशान के रूप में परिणत हो जाता है, उसे उन्होंने चतुरता के साथ व्यक्त किया है; साथ-ही-साथ परिवार में स्नेह और प्रेम होने से जीवन में जिस स्वर्गीय आनंद का अनुभव किया जा सकता है, उसे भी दिखाने से वे नहीं चूके। बूढ़े से लेकर युवक, युवती, बालक, बालिका, सभी के हाथ में देने योग्य यह पुस्तक है और प्रत्येक पृष्ठ में इसमें शिक्षा की सामग्री यथेष्ट परिमाण में मौजूद है। हम पुस्तक के मूल-लेखक बंगला के विख्यात पत्र "वसुमती" के संपादक श्रीयुत बाबू हेमेंद्रप्रसादजी घोष को उनकी लेखन-कुशलता के लिये बधाई देते हैं और उन्होंने कृपा करके अपनी कई पुस्तकों का हिंदी-रूपांतर और अनुवाद करने की हमें जो आज्ञा दी है, उसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

हृदय-श्मशान के पात्रों में प्रधान पात्र है रामनारा ण। रामनारायण ने कॉलेज में अँगरेज़ी की उच्च शिक्षा पाई, सकी स्त्री पद्मावती भी सुशिक्षिता और सुंदरी थी। परंतु दोनों परस्पर प्रेम की उत्कट अभिलाषा होते हुए भी स्नेह न हो सका, र फल दोनों के लिये विषमय हुआ। पद्मावती हृदय की ज्वाला से जलती रही और रामनारायण ने तो घर-बार सब कुछ छोड़ दि और आत्महत्या तक करने की चेष्टा की। डॉक्टर सुंदरलाल, राम रायण के मित्र थे, उन्होंने और उनकी स्त्री ने मित्रता के वश ारायण की बड़ी सेवा-सुश्रूषा की और उनके प्राण बचाए। डॉक्टर सुंदरलाल और उनकी पत्नी में आदर्श दांपत्य-स्नेह था; पति और पत्नी एक दूसरे को बहुत चाहते थे। वे दोनों अपना सुख जुड़ा हुआ समझते थे। रामनारायण ने डॉक्टर सुंदरलाल और उनकी पत्नी का स्नेह देखकर अपने और अपनी पत्नी के बीच उस स्नेह के अभाव का अनुभव किया था। रामनारायण और उसकी पत्नी में, एक शिक्षित जोड़े में, प्रेम की अभिलाषा होते हुए भी स्नेह क्यों न था, इसका कारण लेखक ने बतलाया है मान, मिज़ाज और संदेह। दोनों ने पहले तो मान और मिज़ाज किया, पत्नी ने पति पर संदेह किया, जिसका फल यह हुआ कि विषम-चिंता से रामनारायण का हृदय श्मशान बन गया और उसने रामनारायण के प्राणों को जलाकर ही छोड़ा। पद्मावती ने अपनी भूल का उस समय अनुभव किया जब रामनारायण मृत्यु-शय्या पर थे। इससे यह शिक्षा मिलती है कि पति और पत्नी का शिक्षित होना ही गार्हस्थ्य-सुख का प्रधान कारण नहीं है बल्कि परस्पर स्नेह होना ही पारिवारिक आनंद की कुंजी है। छोटी-सी पुस्तिका का इससे अधिक परिचय क्या दिया जाय? सारांश यह कि पुस्तिका सब भाँति उत्तम और शिक्षाप्रद है। किसी-किसी स्थल के पढ़ने पर

तो आँखों से, बरबस आँसू आ जाते हैं। नवयुवक और नवयुवतियों से प्रार्थना है कि वे इसे पढ़ें और याद रक्खें कि डॉक्टर सुंदरलाल और उनकी पत्नी की भाँति पति और पत्नी में परस्पर स्नेह रहने से ही संसार सुखमय हो सकता है और रामनारायण और पद्मावती की भाँति मान-मिज़ाज करने से हृदय के श्मशान बनने की नौबत आ जाने का भय है।

यदि इसे पाठक और पाठिकाओं ने अपनाया तो हम इसी भाँति के अन्य पारिवारिक उपन्यास भी उन्हें भेंट करने की चेष्टा करेंगे।

रामभवन
१२ क्लाइड-रोड, लखनऊ
१ जुलाई सन् १९२४ ईसवी

कात्यायनीदत्त त्रिवेदी।

प्रस्तुत पुस्तिका की कुछ उपदेशप्रद बातें

'प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक-न-एक उपन्यास का उपकरण रहता है।' (पृष्ठ १)

*　　*　　*　　*

'वेदना और यातना जब तक असहनीय नहीं हो उठती तब तक मनुष्य आत्महत्या पर उतारू नहीं होता।' (पृष्ठ ६)

*　　*　　*　　*

'समुद्र में जैसे मुक्ता-मूँगे रहते हैं वैसे ही मगर और घड़ियाल भी रहते हैं।' (पृष्ठ १०)

*　　*　　*　　*

'जो जीते हुए भी मरे के समान है, उसके लिये संसार में निश्चय कोई काम नहीं है।' (पृष्ठ १४)

*　　*　　*　　*

'व्याधि जब असाध्य हो जाती है, तो वैद्यों के पास उसकी कोई औषधि नहीं रहती।' (पृष्ठ १४)

*　　*　　*　　*

'पुस्तकों की अनेक बातें पुस्तकों में ही अच्छी लगती हैं—वे जीवन में नहीं बरती जा सकतीं।' (पृष्ठ १९)

*　　*　　*　　*

'सुख की अपेक्षा स्वस्ति अच्छी है।' (पृष्ठ २०)

*　　*　　*　　*

'न होने से काना मामा भला ।'

(पृष्ठ २१)

*   *   *   *

'स्नेह और भक्ति दोनों की अधिकता में मनुष्य अंधा हो जाता है और दोष नहीं देख पाता ।'

(पृष्ठ २१)

*   *   *   *

'मद्य ! तुम ही तो प्रेम को मधुर बनाते हो, किंतु तुम्हारे ही प्रभाव से अनेक समय प्रेम फूलने-फलने नहीं पाता । तुम कभी तो दुःख के बीच में से भी सुख की राह खोज निकालते हो और कभी-कभी दुःख में सब ही समाप्त कर देते हो ।'

(पृष्ठ २२)

*   *   *   *

'शत्रु की विराट् सेना की अपेक्षा कुपित पत्नी से मुझे अधिक भय लगता है ।'

—सेनापति मारल ब्रो

(पृष्ठ २५)

*   *   *   *

'जिस घर में लड़कपन में खेला था, यौवन के स्वप्न देखे थे, जो अनेक सुख-दुःख की लीलाभूमि था और था पिता की पवित्र स्मृति ; उसे छोड़ते हुए मैं बड़ा दुःखी हुआ ।

(पृष्ठ २८)

*   *   *   *

'अब तक जिस प्रेम को अपात्र में लगाकर तुमने इतना कष्ट उठाया, उसी प्रेम से अनाथों और दुखियों के साथ क्यों नहीं काम लेते ।'

(पृष्ठ ३९)

*   *   *   *

'जिस स्नेह के प्रतिदान में स्नेह न पाने के कारण तुम संसार-त्यागी हो गए हो, वही स्नेह उन दुखियों को क्यों नहीं देते जो स्नेह के अभाव से दुःखी हो रहे हैं ।'

(पृष्ठ ३९)

*   *   *   *

'बहुतों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे वस्तु के खो जाने पर उसका मूल्य समझते हैं।' (पृष्ठ ३६)

* * * *

'सब आशाएँ और आकांक्षाएँ गृहस्थी के ही केंद्र में बँधी हुई हैं। उस केंद्र को जो छोड़ देता है वह लक्ष्य-हीन होकर केवल दुःख भोगता है।' (पृष्ठ ३८)

* * * *

'जो प्रेम खोया न जा सका और जिसने वेदना की चंचलता अनुभव कराई, वह प्रेम विश्व के कल्याण में प्रयुक्त हो।' (पृष्ठ ३९)

* * * *

'मन की बात मन में रखने से ही तो गोलमाल होता है।' (पृष्ठ ४४)

* * * *

'मृत संतान के उत्पन्न होने पर स्तनों से दूध न निकल सकने के कारण जैसे स्तन-वेदना माँ को व्यथित करती है वैसे ही जान पड़ता है, बाँझ स्त्री का प्रेम भी बाहर न हो सकने के कारण उसको पीड़ित करता है।' (पृष्ठ ४९)

* * * *

'घटना-चक्र में पड़कर सत्य जब मिथ्या के समान दिखाई पड़ने लगता है, तब उसको सत्य प्रमाणित करना बड़ा कठिन हो जाता है।' (पृष्ठ ५०)

* * * *

'प्रणय के विकास-काल में, यौवन की प्रारंभिक प्रेमाकुलता में स्त्री समझती है कि स्वामी केवल मेरे हैं। जिसके लिये उसने पुराना परिचय त्याग दिया, जिसके प्रेम के कारण पिता-माता को भी पराया समझा, जो इस संसार में उसका सर्वस्व है और

कदाचित् परलोक का भी साथी है, जो मित्र है और साथ-ही-साथ देवता भी है, जिसके सामान्य सुख के लिये वह अपना सर्वस्व दे सकती है, उसको—उस पति को—वह समझती है कि मेरा है।'

(पृष्ठ ५१)

* * * *

'अनेक समय अपने सुख को और अपनी स्वतंत्र इच्छा को दमन न करने से गृहस्थी का शांति-पूर्वक चलना दुस्तर हो जाता है।'

(पृष्ठ ५२)

* * * *

'संसार कल्पना का कानन नहीं है, यहाँ सब कुछ मन के अनुसार नहीं होता। जो कुछ प्राप्त हो जाता है उसी पर संतोष करने की चेष्टा करनी पड़ती है।'

(पृष्ठ ५३)

* * * *

'जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ प्रेम की दिखावट और भी यंत्रणा देती है।'

(पृष्ठ ५३)

* * * *

'किसी-किसी फल का छिलका कड़ुआ होता है; किंतु गूदा मीठा। जो लोग छिलका फेककर गूदा लेना नहीं जानते, वे फल को ही कड़ुआ समझते हैं।'

(पृष्ठ ५८)

* * * *

'संदेह का बीज यदि एक बार भी हृदय में उगने का सुयोग पा लेता है तो अंकुरित होकर मंदिरों में उगनेवाले वट-बीज के समान कुछ समय में ही आश्रय-स्थान को सैकड़ों जड़ों से घेर डालता है।'

(पृष्ठ ५९)

* * * *

'संसार में अनेक बातें ऐसी हैं, जिनको ठीक-ठीक केवल वे

ही समझ सकते हैं, जिनसे उन बातों का स्पष्ट सं[illegible] है। उन सब बातों की आलोचना और किसी के साथ नहीं की जा सकती।'

(पृष्ठ ४६)

*　　*　　*　　*

'विद्युत् जैसे विद्युत् की ओर खिंचती है, वैसे ही स्नेह भी स्नेह की ओर आकृष्ट होता है।'

(पृष्ठ ६२)

*　　*　　*　　*

'जिसका जीवन वेदनामय हो रहा हो, आँसुओं [illegible] छोड़कर उसके पास क्या है? वेदना के झरने से टपके हुए आँसू यातना की तरल आग के समान होते हैं।'

(पृष्ठ ६८)

*　　*　　*　　*

'मेरे पाप के कारण जिस मंदिर से देवता अंतर्धान हो गया है, उसी शून्य मंदिर में वेदना, यातना और तिरस्कार के काँटों को छाती में लेकर मुझे प्रायश्चित्त करते रहना चाहिए।' (पृष्ठ ६९)

*　　*　　*　　*

'वह प्रेम नहीं, अमृत है, हाय! अवहेलना करके मैंने उसे क्यों फेंक दिया?'

(पृष्ठ ६९)

*　　*　　*　　*

'मान कहो चाहे उसे अभिमान कहो, जहाँ तक वह सहनीय है वहीं तक वह अच्छा है, उसके बढ़ जाने से सर्वनाश हो जाता है। जहाँ मान, मान नहीं रहता वहाँ वह अपमान हो जाता है।'

(पृष्ठ ७२)

*　　*　　*　　*

'स्नेह का विकास क्या संबंध देखकर होता है? स्नेह तो स्वयं संबंध की सृष्टि कर सकता है।'

(पृष्ठ ७५)

*　　*　　*　　*

'बहुधा पराया जिसे कहते हैं वह जितना अपना हो जाता है, उतना वह अपना नहीं होता जो अपना कहलाता है। इसका कारण यह है कि पराए के साथ में जो संबंध है वह शुद्ध प्रेम का संबंध है, उसमें स्वार्थ-हानि की शंका नहीं है और न ईर्षा की विकृति।'

(पृष्ठ ७९)

कात्यायनीदत्त त्रिवेदी।

हृदय-श्मशान।

डॉक्टर सुंदरलाल का कथन।

(१)

लड़कपन से मैं साहित्य के रसास्वादन से वंचित हूँ, उन दिनों साहित्य का आनंद उठाने का मुझे अवसर नहीं मिला और इन दिनों, जब से डॉक्टर हुआ, तब से लिखने के नाम पर, लिखा है केवल प्रेसक्रिप्शन-दवाइयों के नुसख़े और पढ़ने के नाम पर, पढ़ा है केवल डॉक्टरी पुस्तक-पुस्तिकाएँ, पत्र-पत्रिकाएँ आदि। विलायत से लौटने के बाद सहधर्मिणी को पत्र लिखने का भी सुयोग खो गया, क्योंकि तब से मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ-वहाँ वे साथ ही हैं। यदि कार्यवश बाहर भी गया, तो एक-दो दिन के लिये; पहुँच की सूचना का काम तार से ही निपट जाता रहा। किंतु आज मैं लिखने बैठा हूँ एक ऐसी घटना, जो उपन्यास से भी बढ़कर विस्मय उत्पन्न करने-वाली है। इसलिये इस संबंध में मुझे दो-चार शब्द कह देने की आवश्यकता जान पड़ती है। अमेरिका के एक प्रसिद्ध साहित्य-सेवी ने लिखा है—

"प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक-न-एक उपन्यास का उपकरण रहता है।"

पता नहीं यह बात कहाँ तक सच है। प्रत्येक के हृदय

में हो चाहे न हो, किंतु इतना तो सच है कि बहुतों के हृदय में एक-न-एक उपन्यास का उपकरण अवश्य रहता है। जो हो, मेरे हृदय में जो उपकरण संचित हैं उनमें से जो सबसे अधिक विस्मय-कर और सबसे अधिक वेदना-व्यंजक हैं उन्हीं को मैं सजाकर पाठकों के सामने रखने की चेष्टा करता हूँ।

उन दिनों मैं दिल्ली के अस्पताल में डॉक्टर था। जाड़े के दिन थे। एक तो यों ही दिल्ली में जाड़ा अधिक पड़ता है किंतु उस वर्ष मामूल से भी अधिक ठंढक गिर रही थी। शीत मानो हाड़ों के भीतर पैठा जाता था, लोग शाम से ही घरों में आग जलाकर बैठ जाते थे। इस प्रकार की रात में यदि दो बजे उठना पड़े, तो मन की क्या अवस्था होती है—वर्णन करने के लिये शब्द नहीं हैं। विना अत्यंत आवश्यकता के ऐसे असमय में मेरी पुकार न होती थी। सहधर्मिणी की नींद टूट गई, उन्होंने जगकर कहा—

"आह ! इतनी रात को, ऐसे शीत में !"

मैंने हँसकर कहा—

"मौत के यहाँ तो रात-दिन, शीत-उष्ण का विचार नहीं होता !"

कपड़े पहनकर मैं अस्पताल के ऑफ़िस में आया। मेरे सहकारी वहाँ न थे—दो अपरिचित आदमी बैठे हुए थे। मैंने रोगियों के वार्ड में जाकर देखा कि मेरे सहकारी एक लेटे हुए रोगी पर यंत्रों का आवश्यक प्रयोग कर रहे हैं। मुझे देखते ही उन्होंने कहा—

"इसने अफ़ीम खा ली है।"

मैं भी उसकी चिकित्सा में लग गया।

कोई घंटा-भर लगातार चेष्टा करने पर रोगी के पेट से अफ़ीम बाहर निकली। चिकित्सा के लिये उचित आदेश देकर मैं ऑफ़िस लौटा। देखा कि वे दोनों आगंतुक आपस में बेतरह लड़-झगड़ रहे हैं। उनके शोर करने-चिल्लाने से मुझे ऐसा जान पड़ा कि मानो अस्पताल-भर के रोगियों की नींद अभी टूटी जाती है। क्लर्क रजिस्टर खोले बैठा था। मेरी डाँट से उन दो में से एक कुछ धीमा पड़ा। वह एक होटल का स्वामी था। रोगी उसी के होटल में आया था और वहीं उसने अफ़ीम खाई थी। रोगी के कमरे में 'गों-गों' शब्द सुनकर नौकर ने उसको ख़बर की थी। ख़बर पाकर वह (होटल का स्वामी) तत्काल ताँगा करके रोगी को अस्पताल ले आया। उसने रोगी से ही रोगी का नाम शीतलाप्रसाद सुना था और यह भी जाना था कि वह अवध का रहनेवाला है। मेरे यह पूछने पर कि "झगड़ा किस बात पर है?" उसने कहा—"यह आदमी भी होटल में उसी समय आया था, जिस समय वह अफ़ीम खानेवाला आया था और इसने उसी के पास के कमरे को किराए पर लिया था। यह कहता है कि रोगी का नाम—रामनारायण है।" दूसरा आदमी अपनी ग़ाज़ीपुरी दाढ़ी सँभाल रहा था, मैंने उससे पूछा—

"तुमने उसका नाम कैसे जाना?"

उसने अत्यंत उद्धत भाव से उत्तर दिया—

"मैं जानता हूँ, मैं सरकारी आदमी—पुलीस का आदमी हूँ। जानना ही मेरा काम है, इसी जानने के लिये

ही तो हम लोगों को सरकार तलब-तनख़्वाह देती है। पुलीस को धोखा देना सहज बात नहीं है। मैं इसके साथ बनारस से आ रहा हूँ। आजकल अवधवालों का विश्वास नहीं है।"

उसकी उद्धत बातें सुनते-सुनते मेरा धैर्य खोया जा रहा था, अवधवालों के संबंध में उसके मत-प्रकाश पर मैं शांत न रह सका। मैंने कहा—

"बस, चुप रहो, जाओ, अभी बाहर निकल जाओ।"

आहत सर्प के समान फुफकार छोड़कर उसने कहा—

"मैं पुलीस का आदमी हूँ, मेरे लिये ऐसी बात !"

मैंने कहा—

"तुम पुलीस के आदमी हो कि गुंडे हो, बनारस से आये हो कि जहन्नुम से—हमें यह कुछ जानने की दरकार नहीं है। तुम अभी अस्पताल से बाहर निकल जाओ, नहीं तो इसी समय कान पकड़कर बाहर निकाल दिए जाओगे।"

मैंने दरबान को पुकारा, वह आदमी यह धमकी देकर कि अच्छा कल देखूँगा—बाहर चला गया। मैंने होटल-वाले को भी जाने के लिये कहा। दोनों चले गए। क्लर्क ने पूछा—

"रजिस्टर में रोगी का नाम क्या लिखूँ ?"

मैंने उत्तर दिया—

आज कुछ न लिखो, यदि कोई कुछ पूछे तो उसे हमारे पास भेज देना।"

मैं घर लौटना चाहता था, पर न लौट सका, फिर रोगी के पास लौट गया। "रामनारायण" !—यह नाम मुझे बरा-

वर असाधारण जान पड़ने लगा। कोई पंद्रह वर्ष पहले की बात होगी। मेडिकल कॉलेज से पहले, मैं जिस कॉलेज में पढ़ता था, वहाँ मेरे एक सहपाठी का नाम था रामनारायण। कॉलेज में पढ़ने के दिनों में मेरी उसके साथ विशेष घनिष्ठता थी। कॉलेज से निकलकर जैसे ही हम लोग अपने-अपने रास्ते लगे, घनिष्ठता भी अपने रास्ते लगी। किंतु विलायत जाने से पहले तक मुझे उसका पता था। विलायत गया, वहाँ से लौटा तब नौकर होकर पंजाब आया। जब तक माँ और भाई जीते रहे—कभी-कभी घर जाता रहा। किंतु हैज़े ने पखवारे-भर के भीतर मुझे मातृहीन और भ्रातृहीन कर दिया। विधवा भौजाई ने अपने आवारा भाई के परामर्श से घर में हिस्सा पाने के लिये मामला चलाने की धमकी दी। मेरे मन में संसार के ऊपर बड़ी विरक्ति उत्पन्न हुई। मैंने सोचा कि मेरे पढ़ने के कारण माँ का सब गहना बिक गया था और दादा कुछ संचय नहीं कर पाए थे। उनके एक कन्या है, क्या दादा की कन्या के साथ घर-द्वार को लेकर मैं मामला लड़ूँगा? मैंने अपने भाग का दान-पत्र लिख दिया और भौजाई का सब संशय मेट दिया। फिर मैं पंजाब चला आया। सहधर्मिणी के प्रेम-पीयूष से धीरे-धीरे वेदना के घाव भर गए। तब से देश नहीं गया। मेरी सहधर्मिणी ने भी कभी जाने की इच्छा नहीं प्रकट की; क्योंकि वह जानती थी कि स्मृति फिर हरी हो जायगी, और यंत्रणा की बुझी हुई आग मेरे हृदय में फिर भड़ककर जलने लगेगी। इस प्रकार जब अवध ही का संबंध क्षीण हो गया तब भला रामनारायण का पता मुझे

कैसे रहता ? मैंने सोचा कि क्या यह वही रामनारायण है ? यदि वही है तो यहाँ विदेश में यह कैसे आया ? यह किस विपद् में पड़ गया ? क्या इसने आत्महत्या की चेष्टा की थी ? मैं रोगी के पास पहुँचा। यंत्र-नलिका के सहारे जिस समय पेट से अफ़ीम बाहर निकाली थी, उस समय चेहरा भली प्रकार न देखा था। इस समय मैंने रोगी के चेहरे को ध्यान-पूर्वक देखा। मैंने देखा कि अकाल-जरा-ग्र[illegible]त होने पर भी निस्संदेह यह वही रामनारायण है।

यह [illegible]ही रामनारायण है, मनुष्य का हृदय कितना दुर्बल औ[illegible] कितना कोमल है—रामनारायण को पहचानने पर मुझे इस[illegible]का अनुभव हुआ। समय का व्यवधान सहसा अंतर्हित हो [illegible]या। मैं देश-काल भूल गया। अस्पताल—रोगी, डॉक्टर—सभी मुझे माया जान पड़े। सत्य समझ पड़ा मुझे केव[illegible] तरुण यौवन—पढ़ने की वह अवस्था—और उसके बी[illegible] में केवल रामनारायण। न-जाने, मेरे हृदय के किस कोने [illegible] विस्मृत—रामनारायण के लिये इतना स्नेह छिपा पड़[illegible] था। उसी स्नेह-उत्कंठा के मारे, मेरा चित्त चंचल हो उठा [illegible] सहकारी को मैंने फिर एक बार चिकित्सा और सतर्कता के लिये आदेश दिया। घर लौटते समय ऑफ़िस होता [illegible]आ आया। ऑफ़िस में मैंने क्लर्क से कहा—

"आज की घ[illegible]ना के संबंध में काग़ज़-पत्र में कुछ मत लिखना, और [illegible], किसी से इस संबंध में कुछ चर्चा चलाना।"

फिर मैं अपने [illegible] क्वार्टर में लौट आया।

मेरी पत्नी [illegible]ग जलाकर उसी के पास बैठी हुई एक

मासिक पत्र पढ़ रही थी। उसका सुंदर मुख प्रकाश में और भी सुंदर हो रहा था। हम लोगों का दांपत्य-जीवन संतान-स्नेह से स्निग्ध न हुआ था। जान पड़ता है, इसी से प्रणय के ताप में किंचित् भी शीतलता न आई थी। मैं कार्यवश जितनी देर बाहर रहता, वह बैठी मेरी बाट जोहती रहती। विमुग्ध नेत्रों से उसके सौंदर्यपूर्ण मुख को देखते हुए मैंने उसे पूरी घटना सुनाई। उसने कहा—

"जब वे तुम्हारे बाल्य बंधु हैं तो उन्हें कल ही यहाँ ले आना चाहिए।"

मैंने कहा—

"अवश्य लाना पड़ेगा, नहीं तो बेचारे को पुलीस हैरान करेगी।"

(२)

दूसरा दिन हुआ, पुलीस आई। पुलीस के कौतूहल को मैंने कैसे निवारण किया और उसे कैसे दूर किया— इस सबकी व्याख्या करना निष्प्रयोजन जान पड़ता है। पर, हाँ इतना कह देना अनावश्यक न होगा कि रामनारायण पर आँखें डालने के लिये पुलीस के पास संदेह के अतिरिक्त और कुछ न था। पुलीस रामनारायण के पीछे छः महीने से घूम रही है ; किंतु इतने दिनों की संदेह के अणुवीक्षण से भी रामनारायण में उसने कोई बात पकड़ने योग्य नहीं देख पाई। हाँ, तलब-तनख्वाह लि-लेकर सरकारी तहवील अलबत्ता हलकी कर दी है।

पुलीस से छुट्टी पाकर मैं रामनारायण के पास गया। मैंने पूछा—

"क्या मुझे पहचानते हो?"

रामनारायण ने मेरी ओर देखा। मैंने देखा कि उसकी दृष्टि वैसी ही प्रतिभा-प्रदीप्त थी और दृष्टि में वैसी ही दृढ़ता थी। उसने मुझे भर-आँख देखकर कहा—

"नहीं, देखकर तो मैं नहीं पहचान सका। किंतु कंठ-स्वर से जान पड़ता है कि तुम सुंदरलाल हो।"

मैंने कहा—

"हाँ, ठीक है। और तुम रामनारायण हो। अस्तु। मिसेज़लाल के आदेश से तुमको अस्पताल छोड़कर मित्र के घर चलना होगा।"

विष के प्रभाव और चिकित्सा के फल से रामनारायण का मुख पीला पड़ गया था। मेरी बात सुनकर उसके मुख पर मानो और भी पीलापन दौड़ गया। उसके नयनों से कातरता और आशंका फूट पड़ी। उसने कहा—

"सो, तो, नहीं होने का।"

फिर उसने कहा—

"तुमने रामनारायण को बचाया है अवश्य। किंतु, वह तुम्हारा परिचित रामनारायण नहीं है। तुम्हारा रामनारायण मर चुका है, उसके लिये तुम्हारी औषधि और चिकित्सा सब व्यर्थ है।"

मैंने कहा—

"औषधि की बात चिकित्सक जानता है—रोगी के लिये यह अनधिकारचर्चा है। इस समय तुम मेरे पास हो, इसलिये तुम्हारी चिकित्सा का भार मेरे ऊपर है। तुम्हारी सेवा-सुश्रूषा का भार मेरी स्त्री ने लेने के लिये कहा है।"

रामनारायण ने अत्यंत खिन्न होकर कहा—

"मैं मर रहा था, तुमने मुझे क्यों बचाया?"

तब रामनारायण ने भूल से नहीं, जान-बूझकर अफ़ीम खाई है ! किंतु दुःख, वेदना और यातना की क्या सहनीय दशा तक कोई आत्महत्या कर सकता है ? वेदना और यातना जब तक असहनीय नहीं हो उठती तब तक मनुष्य आत्महत्या पर उतारू नहीं होता । तो क्या रामनारायण के जीवन में कोई ऐसी शोचनीय दुर्घटना घटित हुई है ? क्या वेदना और यातना के आघातों से विकृत-बुद्धि होकर इसने आत्महत्या की थी ? इस रहस्य को जानकर क्या मैं इसके हृदय पर कोई औषधि रख सकूँगा ?

जो हो, बड़ी चेष्टा के बाद मैं रामनारायण को अपने घर लिवा लाया । मेरी स्त्री ने मुझसे सब बातें सुनीं । उसकी स्वाभाविक इच्छा में और दृढ़ता पा गई । उसने निश्चय किया कि रामनारायण को फिर संसारी बनाना चाहिए । किंतु हम लोगों ने अपने इस संकल्प को मन में ही रक्खा । क्योंकि प्रकट होने से, बाधा डालने के लिये रामनारायण के सतर्क हो जाने की संभावना थी । मुझे शीघ्र ही उसके विचार-बर्ताव से पता लग गया कि ज्ञान के अनुशीलन से उसकी स्वाभाविक बुद्धि और भी तीक्ष्ण हो गई है । मैं उसकी आंतरिक वेदना की टोह में रहने लगा ।

(३)

बे समझी हुई नदी में नाव खेने के पहले जैसे केवट नदी की अवस्था की ओर लक्ष्य करता है उसी भाँति हम लोग (मैं और मेरी स्त्री) सावधानता-पूर्वक रामनारायण की ओर लक्ष्य करने लगे । जिस किसी विषय पर मैं राम-नारायण से बातें करता उसी विषय पर उसके अध्ययन की

विशालता और उसकी बुद्धि की तीव्रता का परिचय पाकर मैं विस्मित हो जाता। उसकी बातचीत, शब्द-योजना की विचित्रता और आकर्षण से भरी होती थी। ऐसे मनुष्य के जीवन में ऐसी कौन-सी बात हो सकती है कि जिससे वह आत्मघात करने पर प्रवृत्त हो जाय? समुद्र में जैसे मुक्ता-मूँगे रहते हैं; वैसे ही मगर और घड़ियाल भी रहते हैं! किंतु, यह क्या? एक दिन मैंने उसके परिवार की बातें जानने की चेष्टा की, पर विफल-मनोरथ हुआ। उसी दिन से वह हम लोगों से विदा होने के लिये अत्यंत व्यग्र हो उठा। मैंने उसके मन का भाव समझकर, उस दिन से, उसके सामने उस विषय पर कोई बात नहीं छेड़ी। वह प्रायः प्रतिदिन ही चले जाने की इच्छा करता और मैं और मेरी पत्नी विशेष अनुरोध से उसे रोकते।

कई बार देखा गया कि मेरे घर में पत्नी का स्वतंत्र अधिकार तथा प्रत्येक बात में पत्नी की बुद्धि और व्यवस्था पर मेरा निर्भर रहना देखकर रामनारायण को बड़ा विस्मय होता। इससे मेरी सहधर्मिणी ने अनुमान किया कि कहीं रामनारायण की पत्नी ही उसके जीवन में वेदना का कारण और छिद्र तो नहीं बन गई! रामनारायण के रोग का निदान निश्चय करने में मैं अपनी पत्नी की निपुणता का परिचय पाकर सचमुच विस्मित हो गया।

दिल्ली गौरव की राजधानी और कीर्ति की श्मशान है। इंद्रप्रस्थ से लेकर शाहजहानाबाद तक कितनी राजधानियाँ इस दिल्ली के वक्ष पर केवल स्मृति-मात्र छोड़ गई हैं। किंतु राजधानी के विध्वस्त होने पर स्मृति के अतिरिक्त और भी कुछ रहता है, राजप्रासाद, स्तंभ और मंदिरों के खँडहरों

और बचे-बचाए अंश से वह स्मृति मूर्तिमान् होती रहती है। मैं बीच-बीच में यही सब दिखाने के लिये रामनारायण को अपने साथ ले जाता। मेरे एक और बंधु भी प्रायः मेरे साथ जाते, वे थे अध्यापक द्विवेदी। द्विवेदी महोदय दर्शन की शिक्षा देते थे। केश, वेश से वे दार्शनिक देख भी पड़ते थे।

एक रविवार को शाहजहाँ का क़िला देखना निश्चित किया गया। मैंने सोचा कि रास्ते में द्विवेदी को भी गाड़ी पर बिठा लूँगा। मैं जिस समय उनके घर पहुँचा, उनकी कन्या राजदुलारी मास्टर से पियानो बजाना सीख रही थी और उनका पुत्र जगदीश ट्राइसकिल लिए खेलने में व्यस्त था। मैंने कहा—

"राजदुलारी और जगदीश, हमारे साथ चलो।"

जगदीश ट्राइसकिल छोड़कर हमारे पास दौड़ आया और बोला—

"हाँ, हम चलेंगे डॉक्टर साहब"

द्विवेदी बोले—

"अच्छा, तो ज़रा घर होते आवें।"

मैंने हँसकर कहा—

"क्या इसके लिये भी आज्ञा लेने की आवश्यकता है?"

द्विवेदी ने कहा—

"निश्चय! संसार में जो सर्वेसर्वा है, उसकी किसी विषय में भी क्षमता अस्वीकार करना राजद्रोह है।"

मैंने कहा—

"आप राजभक्त प्रजा हैं!"

उन्होंने कहा—

"डॉक्टर साहब, यहाँ अकेले-अकेले चाहे जितनी वीरता बघार लो। किंतु वहाँ तो करुणरस से ही काम चलता होगा!"

मैं मुसकरा पड़ा, द्विवेदी महोदय घर के भीतर चले गए। उस दिन रामनारायण ने क़िले में दीवान-आम, दीवान-ख़ास, रंगमहल, हम्माम (स्नानागार) आदि देखकर भी मानो न देखा। न-जाने वह किस भावना में लीन था। मेरी अपेक्षा वह यहाँ का इतिहास अधिक जानता था। अस्तु। उसे इन सब स्थानों के देखने में स्वाभाविक कौतूहल होना चाहिए था। मैंने घर आकर पत्नी से सब हाल कहा, वह बोली—

"रोग निर[illegible] करने में मैंने भूल नहीं की।"

मैंने हँसकर कहा—

"तुमको एम॰ डी॰ का सार्टीफ़िकेट मिलना चाहिए।"

(४)

दिल्ली में यमु[illegible], वर्षा को छोड़कर और ऋतुओं में केवल नाम के लिये रह जाती हैं। विस्तृत बालू के क्षेत्र में एक शीर्ण जल-धारा दिखाई पड़ती है। यह क्या वही यमुना हैं, जिनके किनारे [illegible]र वृंदावन-लीला हुई थी? क्या यह वही यमुना हैं, [illegible]नके लिये कहा गया है कि:—

"कालि[illegible]-कूल कदम्बनि में
[illegible]ली-धुनि को सुनि मोहि गई मैं।"

यह वह यमुना नहीं हैं। फिर जिस यमुना का प्रवाह शाहजहाँ के दुर्ग-[illegible]ट पर शोभा बढ़ाया करता था, यह वह यमुना भी नहीं है। दिल्ली से जैसे मुग़लों का गौरव दूर हो गया, वैसे ही मानो यमुना भी दुर्ग से दूर हो गईं।

केवल स्मृति रह गई है। तो भी यह यमुना कँकरीली-पथरीली भूमि में स्निग्ध सलिल की धारा छोड़ रही हैं। मैं प्रायः यमुना-तट पर टहलने जाता और शुष्क और आर्द्र बालू पर जल-धारा के निकट घूमता। उस दिन दोपहर में, मैं रामनारायण के साथ यमुना-तट पर जा रहा था। रास्ते में रामनारायण ने कहा—

"सुनो, सुंदरलाल, तुमने बहुत दिन मुझे पकड़ रक्खा। किंतु अब मैं जाऊँगा।"

मैंने कहा—

"मैंने पकड़ नहीं रक्खा। मैंने अनुरोध करके रक्खा है।"

उसने कहा—

"तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के स्नेह-पूर्ण असाधारण व्यवहार के कारण अनुरोध बंधन से भी अधिक हो जाता है। किंतु अब अनुरोध न करना।"

मैंने कहा—

"अच्छा, कहाँ जाओगे?"

ठीक इसी समय एक हवा का झोंका आया और बालू ने उड़कर हम लोगों को छा लिया। रामनारायण ने कहा—

"इस हवा के झोंके से पूछो यह कहाँ जायगा?"

मैंने कहा—

"इसकी यात्रा तो निरुद्देश्य है, क्या तुम्हारी भी ऐसी ही यात्रा है?"

"हाँ।"

"क्या तुम्हारे पास कोई काम नहीं है?"

रामनारायण ने एक लंबी साँस खींचकर और कहा—

"नहीं।"

मैंने कहा—

"भाई, सुनो। मैं कौतूहल की छड़ी से तुम्हारे जीवन के रहस्य का परदा अकारण नहीं उठाना चाहता। किंतु इस बात पर तो विश्वास करने को जी नहीं चाहता कि तुम-ऐसे विद्वान् और समझदार व्यक्ति के लिये संसार में कोई काम नहीं है।"

"विद्या और समझ के साथ क्या काम का भी कोई संबंध है?"

"है, अवश्य है, काम ही तो मनुष्य का जीवन है।"

रामनारायण ने हँसकर कहा—

"जो जीते हुए भी मरे के समान है, उसके लिये संसार में निश्चय कोई काम नहीं है।"

"यह अवस्था केवल व्याधि का विकार है।"

"व्याधि! अच्छा इसे व्याधि ही कहो, किंतु इस व्याधि की कोई चिकित्सा नहीं है। व्याधि जब असाध्य हो जाती है, तो वैद्यों के पास उसकी कोई औषधि नहीं रहती। यह व्याधि तुम्हारी चिकित्सा से बाहर की बात है।"

"असाध्य व्याधियों की भी तो आजकल औषधियाँ खोज निकाली गई हैं। बीसवीं शताब्दी का, विलायत से लौटा हुआ डॉक्टर यदि इन औषधियों से काम न भी ले, तो भी उसने भली प्रकार समझ लिया है कि इस प्रकार की अनेक व्याधियाँ स्नेह, प्रेम और अनुराग से दूर हो जाती हैं। तुम्हारी व्याधि की सर्वोत्तम औषधि काम है।"

रामनारायण ने निराश भाव से सिर हिलाकर कहा—

"तुम्हारे अयाचित और अप्रत्याशित स्नेह ने मेरे ऊपर बड़ा प्रभाव डालता है, उसी स्नेह के कारण अपना दृढ़ मत

भी परिवर्तित कर देने का प्रलोभन होता है। किंतु, डॉक्टर साहब ! सुनो। पुस्तकों की अनेक बातें पुस्तकों में ही अच्छी लगती हैं—वे जीवन में नहीं बरती जा सकतीं।"

"तुम इतने निराश क्यों हो ?"

"यह एक लंबी कहानी है।"

मैं तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध, उसे सुनाने के लिये तुमसे अनुरोध न करूँगा।"

"नहीं, मैं जाने के पहले अपनी पूर्व कथा बतलाता जाऊँगा। चलो, सामने—बालू के मैदान में—चलो। यह बालू का मैदान भी वैसा ही शुष्क है जैसा कि मेरा जीवन।"

हम लोग बालू पर बैठ गए। रामनारायण ने अपनी कहानी कहनी आरंभ की।

रामनारायण की आत्मकथा।

(१)

दुर्भाग्य कितने दिनों से मेरा पीछा कर रहा था—कह नहीं सकता। किंतु यह कहने में मैं भूल नहीं कर रहा कि शिशु-काल से ही मेरा-उसका परिचय था। पिता मेरे पहले ही स्वर्गवासी हो चुके थे और जब से सुध सँभाली, माता की भक्ति मैं न कर सका। जो पिता के स्नेह का सुख न उठा सका हो, और जो माँ की भक्ति न कर सका हो उसके सिवा और कौन अभागी होगा? बचपन में पितृहीन होकर मैंने पिता को देवता के आसन पर बिठाया था। भगवान् पर कभी विश्वास नहीं किया—किंतु उस विश्वास का अभाव भी जीवन में कभी नहीं अनुभव किया। संपद्-विपद् में, सुख-दुःख में—सर्वदा मैंने यही अनुभव किया कि मैं पिता के निकट हूँ। वह मेरे हृदय में, मेरे जीवन से जुड़े हुए रहे—मैंने उनको कभी विस्मृत न किया।

मेरी भक्ति का कमंडलु पिता के चरणों में ही खाली हो गया था उसमें माँ के लिये कुछ भी न बच रहा था। मेरी माँ के हृदय में पुरुषोचित कठोरता अधिक थी, नारी-जनोचित स्नेह और श्रद्धा का अभाव-सा देख पड़ता था। माँ से यही अभाव मैंने प्राप्त किया था। माँ का स्नेह मेरे बड़े भाई और मेरी छोटी बहन पर समाप्त हो गया था। मैं मँझला था मेरे लिये कुछ न बच रहा था। यही कारण

था कि माँ का स्नेह मेरी श्रद्धा को अपनी ओर आकर्षित न कर सका। एक और भी बात थी। मैं पिता को देवता के तुल्य मानकर उनकी भक्ति करता था, किंतु माँ के हृदय में पिता के लिये श्रद्धा का अभाव था। यह बात मुझे इतनी अस्वाभाविक जान पड़ी कि मैं माँ की ज़रा भी भक्ति न कर सका। पिता अपने दोनों भाइयों को संपूर्ण संपत्ति और पुत्र-कन्या आदि का भार दे गए थे, माँ को किसी बात में वह कोई अधिकार न दे गए थे—यही माँ के निकट, माँ के विचार से, पिता का अपराध था। किंतु मेरी समझ में तो पिता ने ऐसा करके माँ के चरित्र-ज्ञान का ही परिचय दिया था। माँ की किसी से न पटेगी—यह समझकर ही पिता ने उपर्युक्त व्यवस्था की थी। कारण, कोई क्यों न हो—मैं पुत्र होकर भी माँ की भक्ति नहीं कर सका, इसी से समझा जा सकता है कि मैं जनम-दुखिया हूँ।

किंतु इस दुःख की तीव्रता मैंने उन दिनों नहीं अनुभव की। उन दिनों घर-गृहस्थी पितामही के हाथ में थी। जैसे वासुकी वसुंधरा का भार अपने माथे पर उठाए हुए हैं वैसे ही मेरी पितामही हम लोगों के कुटुंब का सब भार अपने माथे धरे हुए थीं। मृत्यु-शय्या में शयन करने से पहले के दिनों में, घर में उनसे सबेरे कोई नहीं जाग सका—वह बड़े तड़के उठतीं और स्नान करके देव-मंदिर का सब काम करतीं; फिर गृहस्थी देखतीं। बच्चों के लिये दूध गरम करतीं और कॉलेज जानेवालों के लिये रसोई बनातीं। पूजन तथा घर का सब काम समाप्त करके अंत में वह अपने हाथ का बना भोजन पातीं। माँ का व्यवहार उनके साथ अच्छा न था, किंतु वह कभी इस पर खिन्न

न होतीं। मुझे याद आ रहा है—मरने के दो दिन पहले द्वादशी के दिन बड़े तड़के जागकर माँ से उन्होंने नहाने के लिये कहा और लौटने पर माँ के जलपान के लिये कुछ बना लेने को छोटी माँ से कहा। उन्होंने कहा—

"कल मैं निर्जला रही हूँ, आज भी मुझे मुँह में जल डालने की शक्ति नहीं है।"

पितामही का इस प्रकार का स्नेह भी माँ के हृदय में प्यार का झरना न खोल सका। मैं पितामही की स्नेह-मंदाकिनी के तट पर वास करता था, मुझे कभी माँ के स्नेह का अभाव न खटका।

जो जन्म-दुखी है, वह भी सुख की आशा करता है। नहीं तो संसार में मैं ही सुखी होने की कैसे आशा करता? अवधवालों के यहाँ लड़के-लड़कियों का विवाह परंपरा-क्रम से, मानो संसार की किसी स्वाभाविक रीति के अनुसार संपन्न हो जाता है। मैं भी अवधवासी था, मेरा भी विवाह हो गया। सुंदर पौत्र-वधू पाकर पितामही ने दो वर्ष आनंद के साथ बिता डाले। तत्पश्चात् उन्होंने शय्या ली, यही शय्या उनकी मृत्यु-शय्या थी।

पितामही की मृत्यु क्या हुई, मानो घर की श्री खो गई। जो सब ओर दृष्टि रखती थीं, जो सब काम की देख-भाल करती थीं, जो गृहस्थी की केंद्र थीं—जब वही न रहीं तब गृहस्थी, पहले के समान कैसे रह सकती थी! बँधी हुई गृहस्थी बिखर गई—और इसका भी प्रधान कारण माँ थीं। वे जब से विधवा हुई थीं, पितामही ने उनको स्नेह की छाया में रक्खा था। माँ ने कभी किसी की ठसक नहीं सही थी। बड़े चाचा बाहर वकालत करते थे। वहाँ बड़ी

माँ कभी-ही-कभी जाती थीं। अब वही पहले यहाँ से खिसकीं। उनके दोनों पुत्रों को पढ़ने के लिये लखनऊ में रहना था, इसलिये वे दोनों कॉलेज के छात्रावास में चले गए। बड़ी माँ सीधे-सादे स्वभाव की थीं, वे झगड़ा करना न जानती थीं। रंग-बेरंग देखकर यहाँ से टल जाना ही उन्होंने उत्तम समझा। उन्होंने कहा—

"मैं क्या मँझली के साथ झगड़ा करूँगी? सास के न रहने पर दंगा-बखेड़ा होने पर, मैं बड़ी हूँ—लोग मुझे ही दोष देंगे।"

माँ ने कहा—

"दीदी को तो बहुत दिनों से स्वाधीन होकर, अलग रहने की इच्छा थी, दादा माँ के भक्त थे, इसलिये वे अब तक अपनी इच्छा पूरी न कर सकी थीं।"

बड़ी माँ पितामही की छाया के समान थीं, इसलिये पितामही के न रहने पर मैं स्नेह से वंचित न हुआ था। माँ के व्यवहार से बड़ी माँ चली गईं—मुझे बड़ा दुःख हुआ। बड़ी माँ को ट्रेन पर सवार कराते समय मैंने उनसे कहा—

"बड़ी माँ, मुझे भी साथ ले चलो।"

बड़ी माँ ने कहा—

"जैसे यह तुम्हारा घर है, वैसे ही वह भी तुम्हारा ही घर है। जब इच्छा हो, आते-जाते रहना। मैं क्या तुम्हें पराया समझती हूँ, मरते समय लल्लू पुत्त के हाथ से अपने मुँह में जल पाकर मुझे जैसी तृप्ति होगी, वैसी ही तृप्ति मुझे तुम्हारे हाथ से पाकर भी होगी।"

मैंने कहा—

"पर बड़ी माँ, तुम जा काहे को रही हो ?"

इस बार बड़ी माँ अपने को न सँभाल सकीं, वह बोलीं—

"यह मेरे भाग्य का दोष है।"

बड़ी माँ का गला भर आया, वे साँस लेकर कहने लगीं—

"बेटा, तुम्हारा तो सब समझा है। माँ ने मरते समय कहा था, देखना गृहस्थी न बिगड़े। मेरे भी दिन आ रहे हैं—तुम्हारे बड़े चाचा भी अब बूढ़े हुए। आशा की थी कि माँ की बात रख सकूँगी। भाग्य के दोष से न हो सका—सो—सो न हो सका, न सही—तुम सुखी रहो।"

बड़ी माँ जैसी शांत थीं—वैसी छोटी माँ न थीं। माँ की रिस का उफान अब छोटे चाचा के ऊपर गिरने लगा। पिता की मृत्यु के बाद से छोटे चाचा ही घर के कर्ता-धर्ता थे। इसलिये माँ के साथ छोटी-छोटी बातों तक में छोटे चाचा का मतभेद हो जाता। माँ क्रम-क्रम से अधिक मात्रा में गर्मी दिखाने लगीं। छोटे चाचा सब सहने लगे। छोटी चाची कभी-कभी कहतीं—"सुख की अपेक्षा स्वस्ति अच्छी है" परंतु छोटे चाचा इससे भी विचलित न हुए। फिर भी, मन टूट जाने पर कुटुंब का जुड़ा रहना विडंबना-मात्र है—इसी विडंबना में छोटे चाचा का जीवन भार हो उठा। गृहस्थी नाम-मात्र के लिये एक रही—एक अन्न खानेवाले इस परिवार में केवल अन्न ही एक रहा।

इसके बाद—दोनों पतोहुओं के साथ माँ के मन की

खिंचा-खिंची चलने लगी। किंतु, मनुष्य एक अवलंब चाहता है—दादा अपने को दुर्बल समझकर माँ का आश्रय त्यागने पर तत्पर न थे, इसलिये बड़ी बहू के साथ मन न मिलने पर भी 'न होने से काना मामा भला' की कहावत के अनुसार, माँ की किसी प्रकार निभने लगी। किंतु मेरी स्त्री के साथ माँ का संबंध अत्यंत कटु हो उठा और घर अशांति का आगार बन गया।

(२)

मेरे ऊपर जैसे दादा के समान माँ का स्नेह अधिक न था वैसे ही मेरी भी माँ के ऊपर अधिक भक्ति न थी। स्नेह और भक्ति—दोनों की अधिकता में मनुष्य अंधा हो जाता है और दोष नहीं देख पाता। मेरे लिये यह कोई बात न थी। इसलिये मेरी स्त्री के साथ अकारण-सकारण माँ का जब झगड़ा हो पड़ता, तो मैं आदि से अंत तक सब जानकर माँ के दोष का परिमाण निर्णय करने में विलंब न करता। यदि समस्त घटनाएँ मैं स्थिर और धीर भाव से सुनता होता तो क्या होता—कह नहीं सकता। क्योंकि मैं अशांति के संसार में रहने से विरक्त हो चुका था। मेरे मन में पारिवारिक सुख-लाभ की वासना भी बलवती थी—इससे भी मैं इनकार नहीं कर सकता। विश्व-विद्यालय-परीक्षा की घोड़-दौड़ में बाज़ी जीतकर मैं बाहर निकला था—नौकरी करता तो नौकरी मिल जाना मेरे लिये कोई कठिन बात न थी। नौकर होकर यदि कहीं देश-विदेश निकल गया होता तो सर पर विपद् न पड़ती। मेरी स्त्री ने भी यदि शांत भाव से सब बातें ठीक-ठीक मुझसे कही होतीं तो बहुत करके मैं इसी प्रकार की कोई व्यवस्था करता।

किंतु, यह न हुआ। माँ; जैसे खुलने लगीं, वैसे ही मेरी स्त्री भी खुलने लगी; विरक्ति की वायु बह उठी और अशांति की किरणें फूट पड़ीं। मेरी स्त्री का व्यवहार मेरे साथ ऐसा होने लगा मानो उसके समस्त दुःख का कारण मैं ही था। मेरा जीवन भी कड़ुआ हो उठा। सुख-स्वप्न टूट गया और आशा का दीपक बुझ गया। चाकरी न करके, मैंने वकालत करने की आशा से ला-कॉलेज में नाम लिखाया—मैंने भूल की। क्योंकि यदि उस समय अशांति के केंद्र से दूर जा सकता तो हृदय-श्मशान न बनता और कभी न बुझनेवाली यह आग हृदय में न धधकती। अब, जब बिना नींद के रात-की-रात काट डालता हूँ, बहुधा पड़े-पड़े उन बातों की विवेचना करता हूँ, तो समझ पड़ता है कि तब जो कुछ मैंने किया, उसका कारण था मान। हाय, मान—तुम ही तो प्रेम को मधुर बनाते हो, किंतु तुम्हारे ही प्रभाव से अनेक समय प्रेम फूलने-फलने नहीं पाता। तुम कभी तो दुःख के बीच में से भी सुख की राह खोज निकालते हो और कभी-कभी दुःख में सब ही समाप्त कर देते हो!

ला (क़ानून) पढ़ने के लिये मैंने नाम लिखाया—किंतु पढ़ने में मेरा मनोयोग न रहा। माँ, दादा किसी से परामर्श न लिया था अस्तु वे लोग भी असंतुष्ट हो गए। दादा के उदासीन व्यवहार को ध्यान से देखने पर उनके असंतोष का पता चलता था किंतु माँ के व्यवहार में वह असंतोष फूट पड़ा। माँ ने समझा कि मुझे सहज में नौकरी मिल सकती थी, किंतु मैंने नौकरी न खोजी—और यह केवल स्त्री के परामर्श से! माँ की विरक्ति का एक और

भी कारण था—पहले बड़े चाचा जो कुछ उपार्जन करते थे, छोटे चाचा जो वेतन पाते थे और किराए में उठे हुए घरों से जो किराया मिलता था—वह सब पितामही के पास आता था। वह इससे घर का काम-काज चलातीं और कुछ संचय भी कर लेतीं। अब बड़े चाचा का उपार्जित धन घर न आने लगा। ऊपर से किराया और संचित धन का जो ब्याज मिला, उसमें से चचेरे भाइयों को छात्रावास में कॉलेज का ख़र्च देना पड़ा। छोटे चाचा का वेतन थोड़ा था और दादा की नौकरी भी सामान्य वेतन ही में लगी। आय कम और ख़र्च अधिक, फिर माँ का ख़र्च का हाथ—पूरा न पड़ने लगा। ख़र्च के बढ़ने का एक और भी कारण था। बहन के ऊपर माँ का बड़ा स्नेह था। इसलिये सदा कुछ-न-कुछ दे-दिलाकर इस स्नेह का प्रकट करना और अपनपौ दिखाना भी माँ के लिये आवश्यक था। सारांश, मेरे नौकरी न करने से माँ की विरक्ति बढ़ गई।

विरक्ति ने मेरी स्त्री के साथ माँ के व्यवहार को और भी कटु कर दिया; और मेरी स्त्री, उस कटु व्यवहार को और भी कटु करके—विष बनाकर—मुझे देने लगी। मैं उस विष को पीने के लिये बाध्य हुआ। मैंने नौकरी करके घर न छोड़ा—यह भी मेरी स्त्री के असंतोष का एक कारण था। अवस्था यह आ पड़ी कि वह मेरे प्रत्येक व्यवहार में कुटिल उद्देश्य का आरोप करने लगी। उसने समझा कि मैं नौकरी केवल इसीलिये नहीं कर रहा कि कहीं उसको सुख-शांति से बैठने को न मिल जाय!

मैं साधारणतः छोटे-मोटे कारणों से विचलित न होता

था—मैंने सहन-शीलता का अनुशीलन करके हृदय को पुष्ट किया था और उसमें कठोरता का तवा चढ़ाया था। किंतु हृदय का एक कोमल अंश खुला रह गया था, उसमें सामान्य आघात लगने से भी मैं विचलित हो उठता और अपने को सँभाल न सकता था। यह कोमल अंश था स्त्री के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और कन्या के प्रति सरल स्नेह। जब इस अंश पर रह-रहकर आघात होने लगा तो पढ़ने में मन लगाना मेरे लिये दुष्कर हो गया। क़ानून पढ़ने में मेरी स्वाभाविक रुचि भी न थी। तीन वर्ष के बाद जब परीक्षा का समय आया—मैंने पहले ही समझ लिया कि सफलता मिलना मेरे लिये असंभव है। यही हुआ, परीक्षा दी और कृतकार्य न हुआ।

परीक्षा देते समय भी मेरे हृदय में उत्साह न था, असफलता की उत्तेजना भी मेरे हृदय में सफलता की वासना को जागृत न कर सकी। अब किसी काम में भी मेरा जी न लगने लगा। जिसको लेकर मैंने सुख-शांति के नंदन की रचना का स्वप्न देखा था, उससे पाया केवल दुःख और अशांति। मेरे और मेरे परिवार के ऊपर विद्वेष का विष उगलना—यही मेरी स्त्री का नित्य का काम हो गया। पहले यह काम सकारण था फिर धीरे-धीरे अकारण हो उठा और अभ्यास में परिणत हो गया। मैं मानो बारूद के स्तूप पर खड़ा था और क्षण-क्षण पर शंकित हो रहा था कि न-जाने किस क्षण क्या हो जाय। उत्तेजना की अविरल धारा से मेरी नाड़ियाँ दुर्बल और निस्तेज हो उठीं। विलायत के प्रसिद्ध सेनापति मारलब्रो ने अपनी पत्नी को लिखा था कि 'शत्रु की विराट् सेना

की अपेक्षा कुपित पत्नी से मुझे अधिक भय लगता है।' मारलब्रो ने बिलकुल ठीक लिखा था। मैं इसी महान् भय से सर्वदा भयभीत रहने लगा। इस दशा में मनुष्य की क्या अवस्था होती है—भुक्तभोगी के अतिरिक्त और कोई नहीं जान सकता। शत्रु को भी इसके जानने का अवसर न प्राप्त हो। मानो मैं कर्म-जगत् से बाहर हो गया। मैं अपनी इस दशा पर विचार करता, विचार करने पर दुश्चिंता मुझे और भी पीड़ित करती किंतु प्रतीकार करने की प्रवृत्ति न जगा सकती। कार्याभाव में क्षमता का नष्ट करना—क्या यह विषम यंत्रणा की बात न थी? मैं सदा ही शंका से उद्विग्न रहता—जिसको देखने के लिये हृदय में प्रबल वासना थी उसको देखने पर भय लगने लगा—कि कहीं विरक्ति न फूट पड़े।

(३)

स्त्री के ऊपर मेरा प्रेम अब भी वैसा ही बना हुआ था—नहीं तो, मैं उन वस्तुओं को क्यों संग्रह करता जिनको मैं समझता कि ये उसे पसंद हैं। मैं जानता था कि किस किनारी की धोतियाँ, किस प्रकार की सुगंधि, किस रंग का काग़ज़ और कैसी क़लम उसे प्रिय है। मैं इन सब वस्तुओं को लाकर अपनी अलमारी में रखता और रखते हुए कुछ लज्जित भी होता। किंतु उसकी उपहास-व्यंजक दृष्टि से लज्जा का स्थान वेदना दबा बैठती।

इस समय शांति और सांत्वना मिलने का साधन मेरे पास रह गया था—तीन वर्ष की कन्या मुरला और उपन्यास पढ़ना।

दूसरे वर्ष परीक्षा देने के समय मैंने परीक्षा न दी। आत्मीय स्वजनों को विस्मय हुआ, माँ की आत्मभावना, विरक्ति और क्रोध के रूप में प्रकट हुई और मेरी स्त्री?—मैं अब इसकी चर्चा न करूँगा। किंतु, दूर रहकर भी मेरी बड़ी माँ मेरी अवस्था का बहुत कुछ अनुमान कर सकी थीं। मुझे बड़े चाचा का पत्र मिला, उन्होंने लिखा था—

"जान पड़ता है, अशांति के कारण तुम्हारे अध्ययन में असुविधा हो रही है, मेरी समझ में तुम बहू को लेकर यहाँ चले आओ, तुम्हारी बड़ी माँ की भी यही इच्छा है। तुम यदि आने के लिये अपनी सम्मति लिखोगे तो मैं या तुम्हारी बड़ी माँ, दो में से कोई एक जाकर तुम्हें ले आवेगा।"

मुझे लेने आने पर माँ की कितनी अनर्गल बातें सुननी पड़ेंगी—यह जानते हुए भी बड़े चाचा ने पत्र भेजा। इसके दो ही कारण हो सकते थे, बड़ी माँ का अनुरोध और (या फिर) अपने स्वर्गीय भ्राता की याद। किंतु मेरा जाना न हो सका। इस प्रस्ताव से बड़े चाचा और बड़ी माँ के लिये जो-जो बातें कही-सुनी जायँगी, उनको मैं सहन न कर सकूँगा—इसलिये पहले ही से इस मार्ग में पैर न रखना मैंने उचित समझा। एक और बात भी थी, जब बड़ी माँ गई थीं तब मेरी दुर्दशा यहाँ तक न पहुँची थी—मैं यदि इस समय पत्नी सहित वहाँ जाता तो वे पति-पत्नी में इतने अनमिल भावों को देखकर न-जाने क्या समझते। मैं कैसे कहता और क्या कहता! आप-ही-आप वेदना सहन करने के अतिरिक्त सहानुभूति पाने की आशा से भी तो कुछ न प्रकट कर सकता! बड़े चाचा को लिख

दिया कि अब मैं मन लगाकर पढ़ रहा हूँ। मेरी यह बात मिथ्या थी, पर मिथ्या के बीच में मैं रह रहा था—चाचा से भी सत्य बात छिपा डाली। जो मेरे लिये लांछना तक सहने को प्रस्तुत हो चुके थे, उनसे भी मैं झूठ बोला!

(४)

मैं अशांति के केंद्र में रहकर दिन काटने लगा। अशांति की लहरें दिन-दिन ऊँची उठने लगीं। मेरी स्त्री मुझे व्यथित और पीड़ित करने के कौशल को यत्न के शान में पैनाने लगी। उसने देखा कि मैं कन्या से स्नेह करता हूँ इसलिये वह अनेक ढंगों से मुरला को मेरे पास से दूर रखने लगी। मैं एक दार्शनिक की भाँति जी में सोचता कि इसमें भी कोई हानि नहीं है क्योंकि मुरला माँ का संपूर्ण स्नेह पा रही है। किंतु वास्तव में यह विचार अपनी दुर्बलता और कापुरुषता को ढकने के लिये आवरण-मात्र था। कन्या को अपना कहने का जो मेरा अधिकार था, उस अधिकार से भी काम लेने का मैं साहस न करता। मुझे आशा थी कि किसी-न-किसी दिन मेरा प्रेम मेरी स्त्री पर विजय प्राप्त करेगा और उस दिन वह अपना भ्रम समझेगी। हाय दुराशा!

इसी समय मेरी आँखें खुल गईं। एक दिन मेरी कन्या ने मेरे पास आने का हठ किया। मेरी स्त्री ने जिन विशेषणों के द्वारा उसको रोका उससे यद्यपि बालिका का मन परिवर्तित न हुआ, किंतु फिर भी मेरी धारणा हुई कि इस प्रकार अपनी माता से नित्यप्रति मेरी निंदा सुनते-सुनते घृणा का भाव बढ़ जायगा और मेरे ऊपर से मुरला

की श्रद्धा उठ जायगी। इस चिंतना से मैं अत्यंत व्यथित हुआ, साथ-ही-साथ मन में आया कि फिर घर-गृहस्थी में रहने के लिये और कौन आकर्षण है ? किस आशा से संसार में रहूँ ?

किंतु क्या करूँगा—जो शिक्षा मैंने पाई है, जिसका मैंने जीवन में अभ्यास किया है, उससे तो यह भी न हो सकेगा कि भीख माँगने के लिये द्वार-द्वार घूमता फिरूँ। अपनी शक्ति पर निर्भर होऊँगा और जैसे होगा मुरला के विवाह के लिये आवश्यक धन एकत्र करूँगा—यह संकल्प करके मैं नौकरी ढूँढ़ने लगा।

थोड़े ही दिनों में एक नौकरी का पता लगा।

फिर न लौटूँगा—यह तो मैंने न सोचा किंतु, कब लौटूँगा—यह भी मैंने निश्चय न किया।

पत्र लिखकर मैंने उत्तर मँगाया और यात्रा का दिन स्थिर किया। कब लौटूँगा, इसका ठीक ठिकाना न था। इसलिये जो सामान अपने साथ ले जाना था उसके अतिरिक्त अपने शेष सामान को ठीक ढंग से रख देने का मैंने विचार किया। धीरे-धीरे सब ठीक हो गया। कभी घर छोड़ा न था। जिस घर में लड़कपन में खेला था, यौवन के स्वप्न देखे थे, जो अनेक सुख-दुःख की लीला-भूमि था और था पिता की पवित्र स्मृति ; उसे छोड़ते हुए मैं बड़ा दुःखी हुआ। मन के कोने में व्यथा का काँटा चुभ गया।

स्टेशन जाने का समय आ गया। यात्रा के पहले मैंने एक बार घर में प्रवेश किया। घर की वस्तुओं को एक बार सतृष्ण दृष्टि से देख फिर दीवाल में टँगे हुए पिता के चित्र को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। ऐसा जान पड़ा कि

मानो पिता ने अपने अभागे पुत्र के मस्तक पर अपना स्नेह-पूर्ण हाथ फेर दिया। व्यथा बहुत कुछ कम हो गई और हृदय में शांति आ गई।

मैं कमरे से निकलने ही को था कि मेरी स्त्री ने कमरे में प्रवेश किया, जाते समय कहीं तूफ़ान न आ जाय—मैं शंकित हो उठा। उसने कहा—

"क्या तुम नौकरी पर जा रहे हो?"

मैंने स्थिर भाव से उत्तर दिया—

"कहाँ?"

क्रोध-दीप्त नयन-दृष्टि मेरे मुँह पर डालते हुए उसने कहा—

"और मुझे इसी नरक में वास करना पड़ेगा?"

उत्तर में अनेक बातें कही जा सकती थीं—किंतु इतना समय न था। और इतने दिन से सब सहता ही चला आ रहा था इसलिये जाते समय उत्तर देने की इच्छा भी न थी। मैंने पाकेट से घड़ी निकालकर समय देखा।

मुझे चुप देखकर उसका स्वर और भी चढ़ गया। उसने कहा—

"तुम्हारे बराबर जगत् में और भी कोई स्वार्थी होगा?"

मुझे हँसी आ गई—स्वार्थ में मेरा कोई उदाहरण नहीं है! मैंने कहा—

यदि इतने दिनों में मेरे चरित्र का अध्ययन करके तुमने यही समझा है तो फिर आज दो बातों में उस स्वभाव के परिवर्तन की कैसे आशा कर रही हो?"

मैं चलने को उद्यत हुआ।

मेरी स्त्री ने, जान पड़ता है, समझा था कि मैं उसके

व्यवहार से झुक जाऊँगा—और, या फिर, जिस चेष्टा में उसे कभी सफलता नहीं हुई, उसी चेष्टा में आज उसे सफलता हो जायगी—मैं भी उसी के समान उत्तर दूँगा और अप्रिय बातों की धारा मुँह से बहाऊँगा। उसका गला भर आया। निष्फल क्रोध की अधिकता से उसके क्रोध-पूर्ण नयनों में अश्रु झलक आए। उसने कहा—

"यह तो कहोगे ही। कुल की लाग है, तुम्हारी नहीं।"

उस समय भी मैं पिता के चित्र के सामने खड़ा था—घर से बिदा होते समय मैं उसी चित्र को प्रणाम करने आया था। इस दशा में—जिसकी मैं पूजा करता हूँ, उसी के लिये यह शब्द ! मेरे लिये जो मेरा देवता है उसी का यह तिरस्कार ! मुझे जान पड़ा कि अब तक सब सहते हुए क्रोध को मैं जीतता आया हूँ, आज यह न हो सकेगा। कठिन उत्ताप से जैसे तरल पदार्थ फूट पड़ता है वैसे ही मेरे हृदय में चंचलता फूट उठी। मैं बड़े कष्ट से अपने को रोक सका और चुप रहा। किंतु इस भय से, कहीं ऐसा न हो कि मैं चुप न रह सकूँ—तत्काल मैं वेग के साथ कमरे से बाहर निकल आया। दारुण ताप से जैसे पदार्थ की प्रकृति परिवर्तित हो जाती है—इस व्यवहार से वैसे ही मेरा संकल्प परिवर्तित हो गया। अब न लौटूँगा।

कमरे से निकलकर नीचे उतर रहा था, सीढ़ियों पर मुरला मिल गई, मुरला ने पूछा—

"पिताजी, कब आओगे ?"

उसको उठाकर मैंने छाती से लगा लिया। पाकेट में अलमारी और मेज़ की तालियों का गुच्छा था। गुच्छा निकालकर उसे दे दिया और कहा—

"मैं अब न लौटूँगा। अलमारी में जो कुछ है, वह तुम ले लेना।"

मैं अब न लौटूँगा—सुनकर बालिका की आँखों में आँसू भर आए। मनुष्य के मन का विश्वास नहीं—संकल्प की दृढ़ता न टूट जाय, इस भय से शीघ्रता के साथ मुरला को गोदी से उतार दिया और नीचे उतर आया। गाड़ी में सामान रक्खा जा चुका था। दादा ने पूछा—

"क्या स्टेशन साथ चलें?"

मैंने कहा—

"नहीं, आवश्यकता क्या है!"

मैं गाड़ी पर सवार हो गया। माँ ने कहा—

"पहुँचते ही तार कर देना।"

कलकत्ता जाने की बात थी—लखनऊ पहुँचकर जो पहली ट्रेन मुझे मिली, मैंने उसी से निरुद्देश्य यात्रा आरंभ कर दी।

(५)

उसके बाद? उसके बाद पाँच वर्ष हो गए हैं, लक्ष्य-हीन अनेक स्थानों में घूम-फिर रहा हूँ। लक्ष्य-हीन! किंतु एक लक्ष्य था—मुरला के विवाह के लिये धन एकत्र करूँगा, इसकी मैंने चेष्टा की है। चार वर्ष में मैंने यथेष्ट धन-संचय किया है। किंतु पहचाने जाने के भय से एक स्थान में कभी अधिक नहीं ठहरा। जहाँ कुछ रुपया पास आया, मनीआर्डर करके घर भेज दिया और वह स्थान छोड़ दिया। इसी प्रकार चार वर्ष मैंने बिता डाले।

उसके बाद—जो लक्ष्य था वह भी अंतर्हित हो गया—जीवन का न तो कोई उद्देश्य रह गया और न कोई आक-

षण । यह एक वर्ष जीवन बिताना भार हो उठा । जहाँ-तहाँ घूमता फिरा । तीर्थों में गया, शांति न मिली, मंदिरों में गया, तृप्ति न हुई—कार्य के अभाव ने मुझे पागल बना डाला । जब यातना भयंकर रूप धारण कर लेती है तो पिता का चित्र मस्तक पर लगाता हूँ और आँखें मूँदकर उन्हीं का ध्यान करता हूँ, इससे कुछ शांति मिल जाती है ।

अंत में जब देखा कि जीवन भार हो उठा तो इससे छुटकारा पाने के लिये मैंने आत्मघात करने की चेष्टा की । किंतु तुमने मेरी वह चेष्टा व्यर्थ कर दी । तुम मेरे बाल्य-काल के बंधु हो और यौवन के मित्र हो । पर तुमने मेरे हृदय-श्मशान के चितानल को बुझने न दिया !—क्यों ?

डॉक्टर सुंदरलाल का कथन।

(१)

कथा समाप्त करके रामनारायण उठ खड़ा हुआ। मैं भी उठा। संध्या के अंधकार ने दिन की अंतिम किरणों को पीकर कब समाप्त कर दिया—मैं न जान सका। चंद्रोदय हो आया। बालू के विस्तृत मैदान में चंद्रमा की किरणों ने सफ़ेद चादर बिछा दी। पास ही कुदसिया-बाग़ के पेड़ों में मोर बोल उठे। बीच-बीच में बगुलों की पाँति-की-पाँति उड़ती हुई निकलती थी और उनके पंखों से पवन में सन-सन शब्द सुन पड़ता था।

रामनारायण उठकर बड़े वेग से आगे बढ़ा। मैं यह देखकर शंकित हुआ। किंतु कुछ ही क्षणों में मेरी शंका दूर हो गई—रामनारायण 'निगंबुधि' श्मशान में पहुँचकर रुका। मानसिक चंचलता के साथ कभी-कभी दैहिक चंचलता भी प्रकट हो जाती है; जो शारीरिक थकावट पर दूर होती है। इसी से, जान पड़ता है, कुछ दूर तक द्रुत वेग से चल चुकने पर रामनारायण ठहर गया।

निगंबुधि दिल्ली का सबसे बड़ा श्मशान ठीक यमुना के किनारे है। हम लोग जिस समय वहाँ पहुँचे, दो शव जल रहे थे। शीत में आग तापना यों ही सुखकर होता है और फिर दिल्ली की शीत में—जो लोग साथ आए थे, चिता के पास बैठे थे। रामनारायण ने एक चिता की ओर देखकर कहा—

"इसकी संपूर्ण अशांति का अंत हो गया।"

मैंने कहा—

"कौन जाने?"

"क्यों?"

"यदि इसी शरीर के साथ सब शेष हो जाता हो—लोक के बाद परलोक न हो तो।"

रामनारायण ने इतना अधिक दुःख भोगा था कि पर-काल की कल्पना से मानो काँप उठा। उसने कहा—

"पर-काल क्या है? पर-काल भी कुछ हो सकता है क्या? तुम क्या पर-काल पर विश्वास करते हो?"

मैंने कहा—

"प्रमाण तो नहीं है पर अनुमान से विश्वास होता है।"

"अनुमान से ही विश्वास करने का कारण कहाँ है?"

"नहीं तो इस वेदना के निदान का निर्णय कैसे होगा?"

रामनारायण ने एक लंबी साँस ली और फिर उत्तेजित भाव से कहा—

"नहीं, इसके आगे कुछ नहीं है। कुछ नहीं है।"

इस पर और कुछ न कहकर मैंने कहा—

"रात हो गई। चलो चलें।"

रामनारायण विना कुछ कहे साथ चल पड़ा। राह में उसको शांत देखकर मैंने कहा—

"कार्य के अभाव ने तुमको आत्मघात पर उद्यत किया। किंतु जगत् में क्या सचमुच कार्य का अभाव है?"

उसने कहा—

"मेरे लिये!"

"तुम्हारे लिये और मेरे लिये, सभी के लिये जगत्

में काम है। अब तक जिस प्रेम को अपात्र में लगाकर तुमने इतना कष्ट उठाया, उसी प्रेम से अनाथों और दुखियों के साथ क्यों नहीं काम लेते! जिस स्नेह के प्रतिदान में स्नेह न पाने के कारण तुम संसार-त्यागी हो गए हो, वही स्नेह उन दुखियों को क्यों नहीं देते जो स्नेह के अभाव से दुखी हो रहे हैं।"

रामनारायण ने कुछ उत्तर न दिया। मैंने और आगे कहा—

"चिकित्सा मेरा व्यवसाय है—जिस जरा, मृत्यु और व्याधि को देखकर बुद्धदेव राजसिंहासन त्यागकर निर्वाण मुक्ति की खोज में बाहर निकले थे—उसी जरा, मृत्यु और व्याधि के साथ मेरा प्रतिदिन परिचय होता है। मैं दिन-दिन इनकी नवीन और विकट मूर्ति देखता हूँ। मनुष्य को कितने कष्ट मिलते हैं! सेवा, सुश्रूषा, औषधि और पथ्य न पाकर मनुष्य राह में पड़े-पड़े सियार, कुत्ते की तरह मरता है। शिशु दूध के अभाव से प्राण गँवाता है। हम लोगों के पास जितना समय है उतने समय में अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार हम लोगों को इन दुखों के प्रतीकार की चेष्टा करनी चाहिए।"

रामनारायण ने कहा—

"इससे क्या मनुष्य को शांति मिल सकती है?"

मैंने कहा—

"हम लोग स्वार्थ लेकर ही किसी काम में लगते हैं। किंतु सुख स्वार्थ में नहीं है; सुख परार्थ में ही मिलता है।"

रामनारायण विचार में मग्न हो गया।

(२)

रामनारायण की सारी कथा मैंने अपनी स्त्री को सुनाई। सुनकर उसने कहा—

"क्या किसी प्रकार रामनारायण के स्वजनों का खोज नहीं लग सकता ?"

मैंने पूछा—

"क्यों ?"

"बहुतों का ऐसा स्वभाव होता है कि वे वस्तु के खो जाने पर उसका मूल्य समझते हैं। मेरी समझ में ये पति-पत्नी दोनों ऐसे ही स्वभाव के हैं। इस पाँच वर्ष के दीर्घ काल में पति और पत्नी दोनों को शिक्षा मिल चुकी। घर छोड़कर, अभाव की पूर्ति होना असंभव समझकर जैसे स्वामी आत्मघात करने पर उतारू हुआ था, स्त्री भी वैसे ही इतने दिनों में नारी-जीवन का सर्वप्रधान बल स्वामी का अभाव समझकर व्याकुल हुई होगी।"

मैंने कहा—

"तुम तो आजकल बड़ी दार्शनिक हो गई हो।"

"देखने की आँखें रहने से ही मनुष्य दार्शनिक होता है। तुम्हारे भी आँखें हैं पर तुम केवल रोगी देखते हो। अच्छा, इस समय ये सब बातें रहने दो। बताओ, रामनारायण के आत्मीय जनों का पता कैसे लगेगा ?"

"सब उपायों में अच्छा उपाय तो यह है कि मुख्य-मुख्य संवाद-पत्रों में विज्ञापन दे दिया जाय।"

"तो फिर यही करो।"

"अच्छी बात है।"

(३)

किंतु दूसरे दिन सबेरे रामनारायण का पता न चला। वह बड़े तड़के मेरे घर से जा चुका था और जाते समय द्वारवान को एक पत्र दे गया था। उसमें लिखा था—

"प्रिय सुंदरलाल,

तुम्हारे स्नेह और तुम्हारी पत्नी के सद्व्यवहार के लिये जाते समय मैं धन्यवाद भी न दे सका—इसी से प्रकट है कि दुर्भाग्य ने अब तक मेरा पीछा नहीं छोड़ा। अँगरेज़ी की किसी कविता में मैंने पढ़ा था कि जो मनुष्य अधिक समय तक भ्रमण करता रहता है वह विश्राम-स्थल में आदर-सत्कार पाकर ठंढी साँसें भरता है। किंतु मैंने अपने दीर्घ भ्रमण में केवल कष्ट पाया था इसलिये तुम्हारे यहाँ आकर और नवीन जगत् का पता पाकर मैं अत्यंत तृप्त हुआ। तुम्हारे प्रेम-सुख-पूर्ण घर में टिककर मैंने जगत् को घृणा से देखना छोड़ दिया और अपने पूर्व विचार पर बड़ा लज्जित हुआ। ईश्वर तुमको सुखी रक्खे।

तुमने मुझे मृत्यु के मुख से छीन लिया। मेरे इस शेष जीवन में क्या उद्देश्य छिपा हुआ है, कौन कह सकता है? जगत् में ज्ञात बातें तो थोड़ी ही हैं, अज्ञात अधिक हैं। उस दिन तुमने श्मशान में मुझे नए कर्तव्य का मार्ग दिखाया है। मैं अब उसी की खोज में जा रहा हूँ। यदि वह खोज मिल गया और हृदय की ज्वाला ठंढी हो सकी, तो मैं तुम्हारी कृतज्ञता का और भी अधिक ऋणी होऊँगा।

मेरे बाल्य-बंधु सुंदरलाल, मैं तुम्हें कभी नहीं भूल सकता।

तुम्हारा स्नेहबद्ध—
रामनारायण"

पत्र पढ़कर मैं चुप रह गया—हृदय में मैंने वेदना अनुभव की। मेरा कर्तव्य क्या है—निश्चय न कर सका। मेरी स्त्री ने कहा—

"पता न लगाओगे?"

मैंने कहा—

"लगाऊँगा। किंतु, पता लगेगा नहीं।"

"क्यों?"

"वह फिर संसार के पिंजड़े में न पड़ेगा, उसको अब बंधन में बाँधना कठिन है।"

मेरी स्त्री ने लंबी साँस लेकर कहा—

"यदि ऐसा हो तो भी बुरा नहीं। किंतु हम लोग संसारी हैं। माया-जाल में फँसे हुए हैं। बाहर की ओर देखना भी नहीं जानते। इसीलिये मुझे ऐसा जान पड़ता है कि सब आशाएँ और आकांक्षाएँ गृहस्थी के केंद्र ही में बँधी हुई हैं। उस केंद्र को जो छोड़ देता है वह लक्ष्य-हीन होकर केवल दुःख भोगता है।"

"रामनारायण की भी यही दशा हुई है। केंद्र से अलग होकर वह केवल दुःख में पड़ गया। वह दुःख इतना तीव्र था कि उससे छुटकारा पाने के लिये अंत में उसे आत्म-घात करने की चेष्टा करनी पड़ी। किंतु, इस बार वह नए कर्तव्य की खोज में गया है—सफलता मिल जाय तो बड़ा अच्छा हो।"

"यही हो। जो प्रेम खोया न जा सका और जिसने वेदना की चंचलता अनुभव कराई, वह प्रेम विश्व के कल्याण में प्रयुक्त हो।"

"हाँ, मुक्ति के पश्चात् जो बंधन है वह भी मधुर है—

"कोई नहीं विश्व में जिसका, उसे मुक्त जग सब है उसका।
ज्योतिर्मय यह रवि शशि तारा, खिले कुसुम सुंदर जग सारा।"

मैंने रामनारायण को बहुत ढूँढ़ा, पर पता न चला। वह जैसे अकस्मात् हम लोगों को मिला था वैसे ही अकस्मात् चला गया। किंतु चिह्न छोड़ गया हम लोगों के हृदयों में—जिनमें उसके लिये स्नेह था और थी सहानुभूति। एक दिन मेरी स्त्री ने कहा—

"तो संवाद-पत्रों में विज्ञापन दे दो।"

"क्यों ?"

"कदाचित् पता चल जाय।"

"अच्छा विचार करूँगा।"

"अच्छी बात है।"

रामनारायण लिख गया था कि 'तुम्हें न भूलूँगा।' मैं भी उसे न भूल सका।

(४)

दो वर्ष बीत गए। रामनारायण की स्मृति हृदय से न गई। फ़ोटो खींचने का मुझे बड़ा चाव रहता था। मैंने उसका भी एक फ़ोटो ले लिया था। प्रायः उसी चित्र को देखकर मैं उसकी चर्चा किया करता। एक बार मेरी स्त्री ने कहा—

"मेरी बड़ी इच्छा है कि उसकी स्त्री को देखूँ। मनुष्य

के जीवन में कितनी भूल हो सकती है—और उसका परिणाम कितना वेदनादायक हो जाया करता है।"

दो वर्ष बाद एक दिन मुझे एक सज्जन के घर में रोगी देखने जाना पड़ा। उनके यहाँ कोयले का कारबार था: वर्ष में आठ महीने वे दिल्ली में रहते थे और शेष चार महीने बाहर। मैंने उनका नाम सुना था, पर इससे पहले उनके घर चिकित्सा करने मैं कभी नहीं गया था।

जिसकी चिकित्सा के लिये मैं बुलाया गया था, वह एक बालिका थी। रोग था विषाद और उससे उत्पन्न दुर्बलता। उसके म्लान मुख पर विषाद की रेखाएँ देखकर देखनेवाले को दुःख होता था। वयस देखते हुए विषाद का यह भाव अस्वाभाविक जान पड़ता था। मैंने बालिका के रोग का इतिहास पूछा। ज्ञात हुआ कि जब यह छोटी थी, इसका पिता घर छोड़कर कहीं बाहर चला गया। उसी समय से बालिका ने खेलना छोड़ दिया—उसकी शिशु-सुलभ चपलता अंतर्हित हो गई। तत्पश्चात् वयस के साथ-साथ उसका विषाद भी बढ़ता गया। अब इस समय उसकी जो वयस थी इस वयस में, अवध में, साधारणतया कन्याओं का विवाह हो जाता है, किंतु उसकी मानसिक अवस्था देखकर उसके पिता के बड़े भाई को उसका विवाह कर देने का साहस न पड़ा। बालिका बड़े आदर से रक्खी जाती थी। दिल्ली में वह इसलिये लाई गई थी कि कदाचित् यहाँ उसके भावों में परिवर्तन हो जाय।

मुझे इस प्रकार के रोगों का परिचय अब तक पुस्तकों में ही मिला था। मैंने गृह-स्वामी से कहा—

"मेरी समझ में विवाह हो जाने के बाद पति-प्रेम, परिवार-ममता और संतान-स्नेह से यह व्याधि दूर हो जायगी।"

उन्होंने कहा—

"किंतु, विवाह के बाद साधारणतया घर में नववधू को जिस अवस्था में प्रारंभिक दिन बिताने पड़ते हैं उसे सोचकर रामनारायण के बड़े भाई इसका विवाह करने से डर रहे हैं।"

रामनारायण!—मैं और अधिक चुप न रह सका। मैंने पूछा—

"यह क्या मुरला है?"

गृह-स्वामी मानो चौंक-से पड़े—

"अयँ! आपने कैसे जाना?"

"रामनारायण मेरे सहपाठी बंधु हैं। दो वर्ष हुए, वे यहाँ आए थे।"

गृह-स्वामी विना कुछ कहे घर के भीतर चले गए। कुछ क्षण पीछे जब लौटे तो द्वार के किवाँड़े भिड़ा दिए। ऐसा जान पड़ा, मानो किवाँड़ों के पास कोई स्त्री आकर खड़ी हो गई है। उन्होंने मुझसे पूछा—

"हाँ तो, वे यहाँ आए थे?"

"हाँ यहीं, दिल्ली आए थे।"

"आपसे कैसे भेंट हुई?"

किस प्रसंग और घटना पर मेरी-उनकी भेंट हुई—वह कहूँ कि न कहूँ, मैं सोचने लगा। गृह-स्वामी ने अत्यंत व्यस्त होकर कहा—

"आप यह संवाद देकर एक परिवार को अनंत दुःख से

मुक्त कर सकते हैं। अनुग्रह करके आप उनका पता बता देवें।"

मैंने कहा—

"अब वे कहाँ हैं—मैं नहीं जानता। वे आए थे और चले गए।"

"कहाँ गए?"

"पता नहीं। वे अपनी निरुद्देश्य यात्रा में कई दिन अपने बाल्य-बंधु के घर (मेरे घर) ठहर गए थे। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं जानता।"

अब की बार भीतर से महिला का मृदु और कौतूहल-कंपित कंठ सुन पड़ा—

"मैं कैसे उनका पता पाऊँगी?"

मैंने कहा—

"पता लगाने का यदि कोई उपाय मैं जानता होता तो अब तक मैंने कभी का पता लगा लिया होता!"

फिर मैंने गृह-स्वामी से कहा—

"आज मेरे पास अधिक समय नहीं है, शेष बातें फिर करूँगा। हाँ, ज़रा मुरला को बुला लो।"

मुरला के आने पर मैंने उससे कहा—

"बेटी, मैं तुम्हारे पिता का बाल्य-बंधु हूँ—वे दो वर्ष पहले मुझे मिले थे। तुमको हमारे घर चलना होगा।"

बालिका के नयन मानो प्रदीप्त हो उठे। उसने पूछा—

"पिता कहाँ हैं?"

"मैं नहीं जानता।"

उसके पीले मुँह पर और पीलापन दौड़ गया, आँखों में आँसू झलक आए। उसने फिर और कोई बात न कही।

मैं जब चलने लगा तो गृह-स्वामी ने मुझे फ़ीस देनी चाही, मुझे बड़ा बुरा लगा। मैंने कहा—

"रामनारायण के सहपाठी होने की बात सुनकर भी आप मुझको फ़ीस देना चाहते हैं?"

उन्होंने कहा—

"तो फिर क्या हुआ? यह तो व्यवसाय है।"

"व्यवसाय में क्या मनुष्यता नहीं रहती?"

"किंतु व्यवसाय में इस व्यवस्था से कैसे पार पड़ सकता है?"

"मनुष्य होने से पार पड़ सकता है; किंतु कोयला का व्यवसाय करने से यदि मन भी काला हो गया हो तो नहीं चल सकता।"

उन्होंने यह सुनकर भी रुपया देने के लिये हाथ बढ़ाया, मुझे क्रोध आ गया—मैंने कहा—

"आप कैसे आदमी हैं? आप तो कुछ बात भी नहीं समझते। इसे रखिए। अब फिर कभी ऐसा न कीजिएगा।"

घर आकर सब बातें स्त्री से कहीं। उसने कहा—

"तुम मुरला को लाए क्यों नहीं?"

मैंने कहा—

"लाने के लिये कह आया हूँ।"

"क्या कह आए हो, चलते समय बड़ी मधुर बातें सुना आए हो। अच्छा मैं ही जाऊँगी।"

"क्यों? यदि उन लोगों ने व्यवहार अच्छा न किया तो?"

"न करेंगे तो न करेंगे। हमारा कुछ छीन थोड़े ही लेंगे। और फिर वे भी तो मनुष्य हैं, अच्छा व्यवहार क्यों न करेंगे?"

(५)

दोपहर बीत गई थी। स्त्री ने गाड़ी लाने के लिये कहा, मैंने पूछा—

"क्यों, क्या बात है ?"

उसने कहा—

"मुरला को लाने जा रही हूँ।"

वहाँ जाकर उन्होंने घर की मालकिन के मन पर कैसे विजय पाई—सो तो पता नहीं। परंतु जब वह लौटीं तो मुरला को साथ लेकर। उन्होंने आकर कहा कि रामनारायण के आने, रहने और जाने की सब बातें मैं बता आई। मैंने हँसकर कहा—

"पेट में बात न रह सकी !"

"मन की बात मन में रखने से ही तो गोलमाल होता है, तुम्हारे सहपाठी ही इसके प्रमाण हैं। तुम्हारे समान यदि मैं भी मन की बातें मन में रक्खूँ तो संसार में रहना कठिन हो जाय।"

"तो फिर न रक्खो, जितना जी में आवे, कहो।"

उस दिन से प्रतिदिन सबेरे मुरला मेरे घर आती और दिन-भर रहती। संध्या-समय मेरी स्त्री उसे उसकी मौसी के पास पहुँचा देती।

मौसी यद्यपि मुरला को बड़े आदर से रखती थी, फिर भी मुरला का मन वहाँ न लगता था। उसके बड़े दादा ने—रामनारायण के बड़े भाई ने—जब उसको लिखकर यह जानना चाहा कि वह कब तक लौटना चाहती है तो मुरला ने उत्तर में लिखा—

"मुझे आकर लिवा ले जाओ।"

मेरी स्त्री ने एक दिन मुरला से पूछा—

"तुम मौसी से दादा को अधिक चाहती हो, पर मौसी तो तुम्हारा बड़ा प्यार करती हैं।"

मुरला सरलता की अवतार थी, उसने बिना कुछ छिपाए हुए कहा—मौसी बहुत प्यार करती हैं पर मैं बड़े दादा का जितना प्यार करती हूँ, उतना मौसी का नहीं।"

"सो क्यों?"

"क्या जानें! कदाचित् इसलिये कि मौसी मेरी माँ की बहन हैं और बड़े दादा पिता के भाई हैं।"

मुरला की पितृभक्ति देखकर मुझे रामनारायण की पितृभक्ति याद आ गई। पुत्री पिता के मनोभाव की उत्तराधिकारिणी है। मैंने अपने कमरे में रामनारायण का चित्र लगा रक्खा था, उस चित्र को दिखाकर मैंने मुरला से कहा—

"यह तुम्हारे पिता का चित्र है।"

सुनकर उसी क्षण मुरला ने पिता के चित्र के सामने मस्तक झुका दिया। अनेक क्षण तक वह ऐसी अवस्था में रही मानो उसे बाह्य-ज्ञान ही नहीं है। जिस समय उसने सिर उठाया, उसकी दोनों आखों से आँसुओं की धारा बह रही थी। मेरी स्त्री ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया। मुरला मेरी स्त्री के वक्षस्थल में मुँह छिपाकर बड़ी देर तक रोती रही। रोने के बाद उसे कुछ सांत्वना मिली।

एक दिन मुरला ने मेरी स्त्री से पूछा—

"काकी, आपके मन में कैसा आता है, पिता फिर कभी यहाँ आप लोगों के पास लौटेंगे या नहीं?"

मैंने कहा—

"बहुत संभव है कि लौटूँ। आने पर मैं तुमको ख़बर करूँगा। तुम आओगी ?"

मुरला इस प्रश्न पर बड़ी विस्मित हुई—वह न आवेगी, क्या यह संदेह भी कोई कर सकता है ? उसने कहा—

"मैं आऊँगी नहीं ?"

"आओगी क्यों नहीं, किंतु बेटी, तब तक तुम्हारा विवाह हो जायगा। विवाह हो जाने पर ससुराल में सब-के मत से आना हो सकेगा।"

मुरला के मुख में वेदना और शंका का भाव फूट उठा। उसने कहा—

"काका, पिता को देखने आने पर जो लोग आपत्ति करेंगे, मैं उन लोगों के पास रह कैसे सकूँगी ?"

मैंने उसकी शंका दूर करने के लिये कहा—

"नहीं बेटी, वे लोग तो स्वयं तुमको तुम्हारे पिता के पास ले आवेंगे।"

दो-ही-चार दिन में मुरला हम लोगों में मिल गई। मेरी पत्नी के आंतरिक स्नेह से वह भी स्वाभाविक संकोच छोड़कर, उससे अपने मन की बात कहती। मैंने उसकी सरलता-पूर्ण बातों से निश्चय किया कि रामनारायण जैसे अपने पिता को देवता मानते हैं, वैसे ही यह भी उनको देवता ही समझती है। वह अपने पिता की चर्चा बड़ी रुचि से सुनती। पिता का मैं बाल्य-बंधु हूँ—जानकर वह मुझसे भी प्रेम करती। मेरी स्त्री भी उसके पिता के लिये दुःखित और उद्विग्न थी। इसलिये उसकी ओर भी मुरला का ध्यान खिंचता था। माँ के प्रति मुरला का आकर्षण न था।

(६)

किंतु मुरला बहुत दिन दिल्ली में न रही। उसने अपने बड़े दादा को लिखा था—'आकर मुझे लिवा ले जाओ।' इसलिये वे मुरला को ले जाने के लिये उद्यत हुए। फिर जब उन्होंने सुना कि रामनारायण दिल्ली आए थे तो कदाचित् कुछ पता लग जाय—इस आशा से तत्काल दिल्ली आ पहुँचे।

वे आते ही मेरे घर आए। मैंने जो रामनारायण को मृत्यु के मुख से बचा लिया था उसके लिये वे मुझे धन्यवाद की बाढ़ में डुबो देने की चेष्टा करने लगे। वे बोले—

"हम लोग आपके सदा ऋणी रहेंगे, यह ऋण किसी प्रकार चुकाया नहीं जा सकता।"

उत्तर में मैंने कहा—

"रामनारायण रोगी के रूप में मेरे पास आए थे, प्रतिदिन अनेक रोगी मेरे पास आते रहते हैं। उनकी चिकित्सा करना ही मेरा काम है—मैं वेतन ही इसी का पाता हूँ। रामनारायण मेरे बाल्य-बंधु हैं, इसलिये उनको मैंने अपने पास रक्खा था। किंतु, मेरा दुर्भाग्य—कि मैं उनको रख न सका, वे चले गए। मैं उनको अपना भाई समझता हूँ, आप मुझे आप कहते हैं—सुनकर मुझे बड़ी लज्जा लगती है।"

उन्होंने कहा—

क्या जानें भाई, आजकल के लड़के तुम लोग—विशेषकरके तुम विलायत से लौटे हुए—मैं अपरिचित ठहरा—इसीलिये मैंने तुमको 'आप' कहा। भाई, कुछ और दूसरी बात मन में न समझना।"

उनका स्नेह देखकर मुझे याद आ गई कि रामनारायण भी ऐसा ही स्नेहशील है। किंतु वह यह स्नेह देने की इच्छा रखने पर भी न दे सका। और उसकी पत्नी!— उसने अवहेलना करके रत्न खो दिया।

रामनारायण के बड़े भाई ने मुझसे सब बातें सुनकर एक आह-भरी साँस ली और कहा—

"जान पड़ता है, अब मेरी उससे भेंट न होगी! जब सोचता हूँ कि उसके दिन कितने कष्ट से बीतते होंगे तो छाती में एक आग-सी लग जाती है। पिता पहले ही चले गए, उनका यह सौभाग्य था। मैं यह सब व्यथाएँ भोगने के लिये रह गया!"

वह दिल्ली में अधिक न ठहरे। मुरला को साथ लेकर घर लौटने की उन्होंने तैयारी की। मैंने उनको सलाह दी कि कोई अच्छा घर देखकर मुरला के विवाह का प्रबंध करना। घर में जिन अवस्थाओं में पड़कर उसका विषाद बढ़ गया है, संभव है, अवस्था के परिवर्तन से उसके मन की दशा भी बदल जाय और पति-प्रेम तथा संतान-स्नेह से उसके हृदय में सुस्थता आ सके।

बिदा का दिन आया। मुरला ने जाने के दिन मेरी स्त्री से फिर कहा—

"काकी, यदि कभी पिता का पता लगे तो मुझे बताना।"

मेरी स्त्री ने कहा—

"बेटी, क्या यह अनुरोध की बात है! मैं स्वयं ही तुमको खबर दूँगी।"

मेरे घर से जाते समय मुरला ने अपने पिता के चित्र को प्रणाम किया और फिर हम लोगों से उसने बिदा ली।

वह यहाँ कुछ दिनों ही के लिये आई थी किंतु इन्हीं कुछ दिनों में उसने इतना अपनपौ बढ़ा लिया था कि बिदा होते समय हम लोगों ने उसकी बिदा-वेदना अनुभव की। अपनी स्त्री के मुँह को देखकर मैंने उसके मन की व्यथा समझी, किंतु कुछ कह न सका। क्योंकि सहानुभूति के संचार से वेदना-जनित आँसुओं का झरना जारी हो जाता। मृत-संतान के उत्पन्न होने पर स्तनों से दूध न निकल सकने के कारण जैसे स्तन-वेदना माँ को व्यथित करती है, वैसे ही जान पड़ता है, बाँझ स्त्री का प्रेम भी बाहर न हो सकने के कारण उसको पीड़ित करता है।

ट्रेन शाम को जा रही थी। 'मैं स्टेशन जाऊँगा'—सुनकर मेरी स्त्री ने कहा—

"मैं भी चलूँगी!"

स्टेशन से लौटते समय रास्ते-भर गाड़ी में वह रूमाल से अपनी आँखें बार-बार पोंछती रही।

मुरला के कारण उसकी मौसी कमलावती के साथ मेरी स्त्री का स्नेह हो गया था। कमलावती ने रामनारायण के संबंध में अनेक बातें बताईं।

कमलावती का कथन ।

(१)

घटना-चक्र में पड़कर सत्य जब मिथ्या के समान दिखाई पड़ने लगता है तब उसको सत्य प्रमाणित करना बड़ा कठिन हो जाता है। मैं यदि आज कहूँ कि पति के ऊपर प्रेम की प्रबलता ही मेरी बहन पद्मावती के दुःख का कारण है, तो बहुत संभव है कि अनेक लोग हँस पड़ें, उन्हें मेरी बात पर विश्वास न आवे। किंतु मैं जानती हूँ कि यह सत्य है और यह बात जितनी मैं जानती हूँ, उतनी और भी कोई जान सका होगा—संदेह है।

किंतु प्रेम की जो उदारता, प्रेमिक की त्रुटियों की अवहेलना करना सिखाती है और अपना सुख-दुख तुच्छ समझकर, अपने मान, अपमान की परवा न करके पत्नी को पति के लिये जीवन उत्सर्ग कर देने पर प्रस्तुत करती है। पद्मा के प्रेम में उस उदारता का अभाव था। इसके दो कारण थे—पहला कारण था संदेह और दूसरा था स्वामी पर एकांत अधिकार का विश्वास। दोनों कारणों ने परस्पर एक दूसरे को प्रबल बना डाला। संदेह हम सबको वंशानुक्रम से मिला है। मानो वह हमारी प्रकृतियों में जड़ा हुआ है। मेरी माँ ने अपनी माँ से पाया था और हम दोनों ने अपनी माँ के पास से। मेरे नाना विलासी व्यक्ति थे। अत्यंत सुंदरी पत्नी का सौंदर्य और चित्त-रंजन-व्यवहार भी उनके मन को आकर्षित न कर सका। मेरी नानी

के हृदय में संदेह का अंकुर उगा। उसी की शाखाएँ हम लोगों तक पहुँचीं। मेरे पिता व्यवसाय में व्यस्त रहते थे। अतएव माँ को उन पर संदेह का कारण न मिलता, संदेह भी होता तो पिता उस पर ध्यान न देते, संदेह अपने आप मिट जाता। इसलिये यह संदेह माँ के दुःख का कारण न बन सका। मेरे स्वामी मेरी इस दुर्बलता को हँसकर उड़ा देते रहे। किंतु पद्मा के भाग्य में यह न बदा था। कोई काम न होने के कारण रामनारायण को इस संदेह के देखने का अधिक अवसर मिला, वे इसे देखते और अकारण जानकर व्यथित होते। परिणाम यह हुआ कि पद्मा का जो मान हवा में उड़ जाना चाहिए था, वह बादलों की रचना करने लगा। स्त्री के मान को स्वामी ने अपमान समझा और इस प्रकार दोनों ओर मन भारी होने लगे।

पद्मा की धारणा थी कि स्वामी पर एक-मात्र मेरा अधिकार है। प्रणय के विकास-काल में, यौवन की प्रारंभिक प्रेमाकुलता में स्त्री समझती है कि स्वामी केवल मेरे हैं। जिसके लिये उसने पुराना परिचय त्याग दिया, जिसके प्रेम के कारण पिता-माता तक को भी पराया समझा, जो इस संसार में उसका सर्वस्व है, और कदाचित् परलोक का भी साथी है, जो मित्र है और साथ-ही-साथ देवता भी है, जिसके सामान्य सुख के लिये वह अपना सर्वस्व दे सकती है, उसको—उस पति को—वह समझती है कि मेरा है। संसार में स्वामी के जीवन पर और भी आकर्षण होते हैं, स्त्री के प्रति उसका जो कर्तव्य है, उसके अतिरिक्त उसके अन्य अनेक कर्तव्य हैं—यह बात समझने

में स्त्री को देर लगती है । पहलेपहल दूसरे कर्तव्यों को वह समझना भी नहीं चाहती, उसकी यह दशा प्रेम की परिचायक है । पद्मा के हृदय में इस भाव के प्रबल होने का भी विशेष कारण था । मेरे पिता एक बड़े परिवार को छोड़कर अलग रहे थे । घर में केवल मेरे पिता थे और माँ थीं । जब दस-पाँच लोग होते हैं तब कर्तव्य बढ़ जाता है, अनेक समय अपने सुख को और अपनी स्वतंत्र इच्छा को दमन न करने से गृहस्थी का शांतिपूर्वक चलना दुस्तर हो जाता है—यह सब समझने के लिये लड़कपन में हम दोनों को सुयोग न मिला । यह एक प्रकार से बालपन की शिक्षा में दोष रह गया । गृहस्थी में प्रवेश करने पर जिस जानकारी से इस त्रुटि का संशोधन होता, उस जानकारी को प्राप्त करने के पहले ही उन स्त्री पुरुषों में मनोमालिन्य हो गया । जिस नम्रता से शिक्षा का पथ सुगम हो जाता है, वह नम्रता पद्मा खो बैठी । उसके अभिमान से अपनी अवहेलना समझकर रामनारायण ने भी उसको शिक्षा न दी । उसकी सास में शिक्षा देने की योग्यता ही न थी । हाँ, उसकी दादी उसको शिक्षा दे सकती थी, उसने शिक्षा दी भी । किंतु मृत्यु ने उस सुयोग से भी पद्मा को वंचित कर दिया । यह उसके भाग्य का दोष था । एक दूसरा कारण भी था—उसने लिखना-पढ़ना सीखा था, सैकड़ों उपन्यास पढ़े थे, उसने समझा कि जो प्रेम अपने कल्पित आदर्श के अनुरूप नहीं है, वह प्रेम ही नहीं है । रामनारायण के मन में अंतर पड़ जाने के प्रसंग में बातें करते हुए जब मैंने उससे कहा—

"संसार कल्पना का कानन नहीं है, यहाँ सब कुछ मन के अनुसार नहीं होता। जो कुछ प्राप्त हो जाता है, उसी पर संतोष करने की चेष्टा करनी पड़ती है।"

तब उसने उत्तर दिया—

"दीदी, इस विषय में मैं कभी तुम्हारे साथ एक मत नहीं हो सकती। और सब बातों में यह माना जा सकता है, पर, स्वामी-स्त्री के संबंध में यह बात नहीं चल सकती।"

इस संबंध में उसे समझाना मेरी शक्ति से बाहर की बात थी।

"विष से विष का नाश होता है"—बात ठीक है कि नहीं, नहीं जानती। किंतु विष से विष बढ़ता है, इसमें संदेह नहीं है। यहाँ भी यही बात हुई। रामनारायण समझते कि जो प्रेम उनके दोष ढूँढ़ता है, और जहाँ उनका रत्ती-भर भी दोष नहीं होता, वहाँ वह दोष की कल्पना करता है, वह प्रेम प्रेम ही नहीं है। इसलिये पद्मा के व्यवहार में रामनारायण को प्रेम का अभाव ही देख पड़ता। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ प्रेम की दिखावट और भी यंत्रणा देती है। इसलिये रामनारायण ने पद्मा से अपने को दूर हटाने की चेष्टा की।

सास के व्यवहार से जितनी विरक्ति और वेदना होती, पद्मा उस सबके लिये रामनारायण के ऊपर ही मान करती, और रामनारायण उस मान को अपना अपमान समझते!

(२)

पद्मा के साथ सास का व्यवहार अच्छा न था, पद्मा

के दुःख का यह भी एक निस्संदेह कारण था। पन्ना की सास की गिनती उन स्त्रियों में थी, जो घर में तो ख़ार खाए रहती हैं, पर, बाहरवालों से बड़ा प्रेम दिखाती हैं। पन्ना की सास का वर्ताव बाहरवालों के लिये जितना ही मिलनसार था, घरवालों के लिये उतना ही कटु था। ननद, सास यहाँ तक कि अपने दोनों भाइयों के साथ में भी उसका व्यवहार अच्छा न था। किंतु मेरे साथ उसका जो बर्ताव था, उससे जान पड़ता था कि मानो स्नेह उछली पड़ता है। पन्ना के विवाह से पहले ही मेरा उनसे परिचय हुआ था, इसी परिचय के परिणाम-स्वरूप रामनारायण के साथ पन्ना का विवाह हुआ था। मैं उनकी कन्या नर्मदा के साथ पढ़ती थी। स्कूल की गाड़ी मुझे लेकर नर्मदा को लेने जाती थी। और, लौटने पर, उसको उतारकर फिर मुझको घर पहुँचाने आती थी।

एक दिन हमारी गाड़ी जब स्कूल से लौटी तो नर्मदा के घर के पास ही एक दूसरी गाड़ी से टकरा गई, स्कूल की गाड़ी का एक पहिया टूट गया। घोड़ा बुड्ढा था, नहीं तो संभव है, कोई और भयानक घटना हो जाती। नर्मदा अभी गाड़ी पर ही थी, उसका घर कुछ ही दूर रह गया था। पहिया टूट जाने पर हम सब गाड़ी से उतर पड़ीं। साईस दूसरी गाड़ी भाड़े पर लाने के लिये चला गया। हम सब नर्मदा के द्वार पर आकर खड़ी हो गईं। नर्मदा के घर की स्त्रियाँ बड़े आदर के साथ हम सबको घर लिवा ले गईं और विना जल-पान कराए न मानीं। उस दिन रामनारायण की आजी और बड़ी माँ ने मेरे साथ आदर का इतना सुंदर बर्ताव किया कि मैं एक ही दिन में उनकी हो

गई। रामनारायण की माँ ने सबसे अधिक मेरा आदर किया। वे बार-बार कहने लगीं—

"बालिका क्या है, घर का प्रकाश है।"

नर्मदा अपनी माँ की प्यारी पुत्री थी। उसकी संगिनी जानकर नर्मदा की माँ मुझ पर भी बड़ा स्नेह दिखाने लगीं। नर्मदा ने मेरे घर जाना आरंभ किया और मैंने उसके घर। नर्मदा की माँ उसके सब प्रकार के दुलार सहती। नर्मदा मुझे जब-तब जिस प्रकार के मूल्यवान् उपहार देने लगी, उनको देखकर मेरे पिता कुछ विरक्त हुए। उन्होंने कहा कि 'यह सब स्वाँग अच्छा नहीं है।' किंतु प्रेम और शील के मारे वे स्पष्ट विरोध न कर सके। मेरी माँ ने कहा—

"और कितने दिन यह चलेगा, दोनों की उमर विवाह योग्य आ रही है। इसके बाद कहाँ यह और कहाँ वह।"

माँ को अपनी बाल-संगिनियों की बात याद आ गई, उन्होंने एक लंबी साँस ली!

किंतु विवाह के बाद भी हम लोगों की घनिष्ठता न टूटी। मेरा विवाह मुहल्ले में ही हुआ, नर्मदा प्रायः पिता के घर आती और रहती। इस प्रकार हम दोनों की प्रायः भेंट होती रहती।

इसी समय रामनारायण के विवाह की बात-चीत उठी। रूपवान्, धनवान् और विद्वान् युवक के साथ कन्या का विवाह करने के लिये अनेक लोग लालायित हो पड़े। किंतु नर्मदा ने मेरी बहन के साथ विवाह करना निश्चय किया। नर्मदा की माता का भी यही मत था। मेरी बहन भी मेरे ही समान गौर वर्ण और सुंदर थी।

जब वर-पक्ष से ही प्रस्ताव आया तो फिर क्या सोचना-

विचारना था, पिता-माता ने बड़ी प्रसन्नता के साथ सम्मति दे दी। किंतु पिता की एक मौसी ने माँ से कहा—

"बहू, वहाँ बेटी को कुटुंब का सुख न मिलेगा।"

माँ ने घबड़ाकर पूछा—

"क्यों?"

उन्होंने कहा—

"वर बड़ा गंभीर रहता है, उसके मुख पर हँसी नहीं। जिस मनुष्य के मुख पर हँसी नहीं होती, वह मन का अच्छा नहीं होता।"

माँ हँस पड़ीं। किसी ने उनकी बात पर ध्यान न दिया। पद्मा के साथ रामनारायण का विवाह हो गया।

(३)

पिता की मौसी की बात कहाँ तक सत्य थी, यह मैंने थोड़े ही दिनों में समझ ली। जो दासी पद्मा को पहुँचाने गई उसने लौटकर माँ से कहा—

"और तो सब अच्छा है माँ, पर तुम्हारी समधिन के जानो बड़ा अभिमान है, उनकी चाल-ढाल, बात-चीत सब मानो पुरुषों-जैसी है।"

माँ ने कहा—

"तेरी बातें।"

उसने कहा—

"पर, माँ इसकी कुछ चिंता नहीं है। आजी-सास बड़ी भली हैं। वे नाती, नतिनी, नात-बहू को बड़े प्यार से रखती हैं।"

बात भी यही थी। आजी-सास के स्नेह और प्यार से

पहलेपहल पद्मा सास के प्रेमाभाव का अनुभव भी न कर सकी।

किंतु थोड़े ही दिनों में रंग खुल गया। प्रथम प्रेम के प्रबल आकर्षण से पति-पत्नी जैसे-ही-जैसे एक दूसरे की ओर झुकते गए वैसे-ही-वैसे आजी-सास का आनंद और सास की विरक्ति बढ़ती गई। लड़का पराया हुआ जाता है—इस आशंका से बहू के प्रति सास की विरक्ति दिन-दिन प्रबल होने लगी। जो पुत्र स्वभावतः बहुत करके अपना न था। बड़े पुत्र के व्यवहार के साथ जिसके व्यवहार की तुलना करके सास जिसको एक प्रकार से पराया सा ही समझती आ रही थीं, वह अब नए सिरे से पराया हो जायगा—यह उनकी समझ की विलक्षणता थी।

जो हो, सास के विरक्तिपूर्ण व्यवहार से पद्मा दुखी होती। उसकी व्यथा मान के रूप में बदलकर स्वामी के ऊपर आ पड़ती। स्वामी ने उसका प्रतीकार क्यों न किया स्वामी ने न समझा कि प्रतीकार का मार्ग कितना कंटकाकीर्ण होता जा रहा है। यह यौवन का दोष, प्रेम का अविचार और अनभिज्ञता का अपराध था। किंतु साधारणतया युवक स्त्री के इस अपराध को अपराध नहीं समझते, वे इसको मान के नाम से पुकारते हैं और इसे प्रेम की उज्ज्वलता समझते हैं। किंतु अभागिनी पद्मा के लिये इस नियम का व्यतिक्रम हो गया। उसके इस मान और अकारण कोप को रामनारायण ने दूसरे ही रूप में समझा। उन्होंने पद्मा में प्रेम का अभाव निश्चय किया। किसी-किसी फल का छिलका कड़ुवा होता है, किंतु

गूदा मीठा। जो लोग छिलका फेंककर गूदा लेना नहीं जानते, वे फल को ही कड़ुवा समझते हैं। रामनारायण की भी यही दशा हुई। उनमें भी उसी भाँति मान उत्पन्न हो गया। किंतु जैसे उन्होंने पद्मा के मान को न पहचान सकने के कारण अवहेलना समझा, वैसे ही पद्मा ने भी उनके मान का स्वरूप न समझकर उसे अपमान माना। साथ-ही-साथ उसके मन में संदेह का भी संचार हुआ। यह क्यों हुआ?

पद्मा के व्यवहार से रामनारायण के मन में सभी बातों पर विरक्ति-भाव जड़ पकड़ने लगा। उनके जीवन में मानो कोई आकर्षण न रह गया और न रह गई उनकी आकांक्षा में कुछ भी उत्तेजना। वे चाहते तो अच्छी नौकरी कर लेते, वकालत की परीक्षा में भी अनायास उत्तीर्ण हो जाते। किंतु उन्होंने न तो नौकरी की और न वकालत पास करने की ही चेष्टा की। परिणाम यह हुआ कि उनकी माँ सब से अधिक विरक्त हुईं; क्योंकि उनका हाथ खरचीला था। घर के ख़रच के अतिरिक्त एक और ख़रच था—वे नर्मदा को प्रकट और अप्रकट में बहुत रुपया देती थीं, नर्मदा वह सब रुपया जी खोलकर पिता के घर में ख़रच करती। प्रसंग आने पर माँ, बेटी—दोनों के कहने से जान पड़ता कि रुपया नर्मदा के ससुर और स्वामी ने दिया है। माँ की विरक्ति पद्मा को छेदने लगी। वह यंत्रणा सहती और स्वामी के लिये सोचती कि धनोपार्जन की ओर उनमें आकांक्षा का इतना अभाव क्यों है? इसमें अंतःसलिला फल्गू की जलधारा के समान कोई रहस्य तो छिपा नहीं है? संदेह का

बीज यदि एक बार भी हृदय में उगने का सुयोग पा लेता है तो अंकुरित होकर मंदिरों में उगनेवाले वट-बीज के समान कुछ समय में ही आश्रय-स्थान को सैकड़ों जड़ों से घेर डालता है। पद्मा की यही अवस्था हुई।

पद्मा की यह अवस्था देख कर मैंने एक दिन उसके मना करने पर भी, रामनारायण से पारिवारिक प्रसंग छेड़ने की चेष्टा की। महिला-समाज में हास-परिहास तो दूर रहा, अधिक बातें करना भी रामनारायण की प्रकृति के विरुद्ध था। दूर पर भी कोई अस्वाभाविक शब्द सुन-कर जैसे पक्षी भीत-चकित होकर द्रुत वेग से उड़ जाता है, मेरी बात सुनकर उन्होंने भी वैसा ही भाव प्रकट किया, कहा—

"सुनो, संसार में अनेक ऐसी बातें हैं, जिनको ठीक-ठीक केवल वे ही समझ सकते हैं, जिनसे उन बातों का स्पष्ट संबंध है। उन सब बातों की आलोचना और किसी के साथ नहीं की जा सकती।"

मुझे फिर और कुछ कहने का साहस न हुआ।

यह बात जब मैंने पद्मा से कही तो वह रो पड़ी, रो-कर उसने कहा—

"दीदी, तुम क्यों अपमानित होने गई थीं?"

मैंने कहा—

"इसमें अपमान क्या है?"

उत्तर में उसने जो कहा, उसे सुनकर मैं स्तंभित हो रही। उसका भाग्य फूट गया था! रामनारायण के स्वभाव की विवेचना करके उसकी बात पर विश्वास करने को मेरा जी न चाहा। मैंने कहा—

"यह हो ही नहीं सकता।"

तब उसकी बातों से जान पड़ा कि उसने स्त्रियों को उपहार में देने योग्य पदार्थों का संग्रह रामनारायण के पास देखा है। उसके घावों पर नमक छोड़ने के लिये उन्होंने ये पदार्थ भी कैसे संग्रह किए—वैसे ही, जैसे कि पद्मा को रुचते थे। वह जैसी साड़ी पसंद करती थी, वह जैसे अन्य वस्त्र पहनती थी, वह जिस प्रकार का चिट्ठी लिखने का काग़ज़ रखती थी, जैसी उसको सुगंध प्रिय थी, सब पदार्थ वैसे ही रामनारायण मोल लाए। रामनारायण ने इनके लुकाने की चेष्टा की, किंतु पद्मा की संदेह-तीक्ष्ण-दृष्टि से ये अनदेखे न रह सके।

सुनकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ—तो भी विश्वास करने को मन न चाहा।

मैंने पद्मा से कहा—

"मेरी जान में तो तेरे समझने में भूल हुई है।"

उसने कहा—

"अपनी आँखों पर अविश्वास कैसे करूँ दीदी?"

फिर एक आह-भरी साँस लेकर मानो अपने आप उसने कहा—

"यदि देखकर भी अविश्वास कर सकती।"

इन शब्दों से उसके हृदय की जो वेदना प्रकट हुई, वह मेरे हृदय में घर कर गई। मैंने उसको पकड़कर छाती से लगा लिया। दोनों बहनें बड़ी देर तक रोती रहीं। रोने के सिवा ऐसी अवस्था में स्त्रियों को और किस बात से सांत्वना हो सकती है?

(४)

इस प्रकार स्वामी के प्रति विश्वास खोकर जब पद्मा ने समझा कि सुख की आशा का दिया बुझ गया तब इस संसार में उसको शांति पाने के लिये स्थान न देख पड़ा। उसका संसार पहले ही टूट-फूट गया था—आजी-सास की मृत्यु से पद्मा के स्नेह का आश्रय नष्ट हो गया था। फिर बड़ी माँ चली गई, छोटी माँ भी दूर रहने लगीं। मन में चाहे जो रहता हो, किंतु, प्रकट में पद्मा अपनी अप्रसन्न सास की अनुगत ही रहती थी; क्योंकि उसके स्वामी सब प्रकार से माँ के ऊपर निर्भर थे। सास के आनुगत्य में सुख न रहने पर भी शांति का उपाय था। फिर भी मनुष्य स्नेह और प्यार का एक सहारा ढूँढ़ता है। पद्मा ने उस स्नेह की झोंक में कन्या को ही दृढ़ता से पकड़ा। उसके मन में कन्या के खो जाने की प्रबल आशंका थी इसलिये वह बड़े सतर्क भाव से कन्या को सदा अपने पास रखती। सास इस पर भी बुरा मानती। वह कहती कि मैं रामनारायण की माँ थोड़े हूँ, माँ होती तो मेरे पास कन्या के आने-जाने में छोटी बहू क्या बाधा डालती? पद्मा अपनी सतर्कता की यह व्याख्या देखकर बड़ी दुखी होती। किंतु इस प्रकार के दुःखों के कारण उसके जीवन में इतने घटित हो चुके थे कि उसको इस व्याख्या में कोई अस्वाभाविकता न जान पड़ी। पद्मा की सतर्कता का एक दूसरा परिणाम भी हुआ। रामनारायण ने समझा कि मेरी स्त्री कन्या को मेरे पास इसलिये नहीं आने देती कि मैं उसे प्यार करके सुखी होऊँगा। वह केवल मनोमालिन्य के कारण मेरी ओर से कन्या में परायापन का भाव लाना

चाहती है। इस विश्वास से रामनारायण को निस्संदेह कष्ट होता था, किंतु पद्मा इस बात को तब नहीं समझ सकी।

विद्युत जैसे विद्युत् की ओर खिंचती है, वैसे ही स्नेह भी स्नेह की ओर आकृष्ट होता है। किंतु पद्मा का भाग्य ही न-जाने कैसा हो गया! मुरला उसकी ओर उतना न झुकती थी जितना कि रामनारायण की ओर। रामनारायण का स्नेह पद्मा के स्नेह से बड़ा था—कौन कह सकता है? वह था पिता का स्नेह और यह था माता का स्नेह। बात अब समझ में आती है, मुरला ने पितृभक्ति उत्तराधिकार में पाई थी। जैसे-ही-जैसे दिन बीतते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे यह बात स्पष्ट होती जाती है कि जिस प्रकार रामनारायण पिता को देवता के आसन पर बिठाकर पूजते हैं, वैसे ही मुरला भी रामनारायण को देवता ही समझती है।

कन्या के प्रति पद्मा की इस स्नेहसतर्कता ने ही, जान पड़ता है, रामनारायण को अंतिम भूल करने के लिये उत्तेजित किया—घर छुड़ा दिया।

(५)

उस दिन मैं रामनारायण के घर थी। मैं जब देश में होती तो बहुधा रामनारायण की माँ मेरा निमंत्रण करतीं। वे मेरे ऊपर जितना स्नेह दिखलातीं, पद्मा की उतनी ही निंदा करतीं। मैं उनके निमंत्रण में कभी नाहीं नहीं कर सकी—कहीं वे अपना अपमान न समझें, और मेरे ऊपर की विरक्ति पद्मा के ऊपर और गहरा रंग न कर दे! वहाँ जाने पर हम दोनों बहनें अनेक बातों पर आलोचना करती रहतीं। पद्मा की बातें सदा दुख भरी होतीं, किंतु

उसकी बातें सुनकर, उसके साथ रोने में भी सुख मिलता। रामनारायण की माँ मुझसे कहतीं—

"हमारा सोने का संसार छार हो गया। बेटा संन्यासी हो रहा है, तुम अपनी बहन को थोड़ा समझा दो।"

उस दिन जाकर मैंने सुना कि रामनारायण नौकरी पर जा रहे हैं मैंने पद्मा से पूछा, उसने कहा—

"सुनती हूँ।"

कैसी नौकरी है, कहाँ पर है—यह वह कुछ न जानती थी।

रामनारायण के चले जाने पर मैं भी घर लौटने लगी। पद्मा की सास ने कहा—

"न हो तो आज यहीं रह जाओ। छोटी बहू अकेली रहेगी। मैं तुम्हारे घर ख़बर भेजे देती हूँ।"

छोटी बहू के प्रति इस स्नेह-प्रदर्शन पर मुझे हँसी आई पर, मैंने अपनी हँसी रोक ली।

रात को हम दोनों बहनें और मुरला एक जगह लेटीं। रामनारायण के जाने के बाद से मुरला बराबर रो रही थी। मैंने उसको भुलाकर शांत करने का प्रयास किया, किंतु उसका रोना किसी प्रकार बंद न हुआ। पद्मा खीझ उठी, उसने कहा—

"इसके दुलार तो देखो, आँखों में जान पड़ता है—झरना लगा है। जानो कोई किसी के कभी विदेश चाकरी करने नहीं जाता।"

मैंने मुरला को समझाया—

"अच्छा मैं कल ही उनको लौट आने के लिये लिख दूँगी, क्यों मुरला?"

मुरला ने कहा—

"मौसी, पिता अब न लौटेंगे।"

मैंने कहा—

"छिः! बेटी, ऐसी भी कोई बात कहता है?"

उसने कहा—

"पिता मुझसे कह गये हैं। यह देखो अलमारी की ताली दे गए हैं, मुझे सब चीज़ें लेने को कह गए हैं।"

मुरला ने ताली मुझे दे दी।

बालिका की बात सुनकर मुझे भी आशंका हुई। 'मुझसे कह गए हैं।'—इस बात पर उसको जितना दृढ़ विश्वास था, वह सचमुच असाधारण था। यही तो सच नहीं है? अलमारी में बिंदुमाधव कोई पत्र तो नहीं रख गये? मैंने पद्मा से कहा—

"चलो, देखें।"

कौतूहल वास्तव में मेरी अपेक्षा उसको अधिक पीड़ित कर रहा था। वह उठी, मुरला भी साथ हो ली। पास के कमरे में पहुँच कर पद्मा ने बटन दाबा, कमरा बिजली से प्रकाशित हो गया। मैंने ताली लेकर अलमारी खोली। जिन सब चीज़ों ने—कपड़े, लेस, चिट्ठी लिखने के काग़ज़, होल्डर, तेल, इतर—पद्मा की संदेह-आग को भड़का दिया था, वे सब अलमारी में हैं! मैंने विस्मितभाव से मुड़कर उससे कहा—

"यह क्या—यह सब चीज़ें रामनारायण ने क्या तेरे ही लिये इकट्ठी कर रक्खी थीं?"

उसने कुछ उत्तर न दिया—उत्तर वह दे न सकी। इतने ही अल्प काल में उसका भ्रम टूट गया! जान पड़ा कि भ्रम मिटने के साथ-ही-साथ, इस भ्रम के विषम फल को

सोचकर, अपने अपराध का परिमाण भी उसने समझा। अब उपाय क्या था?

मुरला पिता के खाली पलँग पर पड़ी रो रही थी। वेदना से अधीर होकर पद्मा भी उसी में पड़कर, कन्या को छाती से चिपटाकर रोने लगी। मैंने उसको शांत करने की चेष्टा की। मैंने कहा—

"मैंने तो कहा था कि इस संदेह को मन में स्थान देने का कोई कारण नहीं है। तू कल ही चिट्ठी लिख।"

वह मुख ऊपर न उठा सकी। उसने कहा—

"लाज के मारे कौन मुँह लेकर चिट्ठी लिखूँगी?"

कुछ देर बाद पद्मा का रोना बंद हुआ। उस समय मेरे मन में और एक शंका उठी—क्या सचमुच रामनारायण न लौटेंगे?

रोते-रोते थककर मुरला सो गई। हम दोनों बहनें उसी बात की आलोचना करने लगीं, जिसके खो जाने की आशंका की भी कल्पना न की जा सकी थी, उसी के आज खो जाने की संभावना से भ्रम और मान सहसा अंतर्हित हो गया। अब पद्मा ने समझा कि उसके हृदय के अभाव को स्वामी ने कहाँ तक पूरा किया था। यही बात वह इतने दिन तक न समझ सकी थी।

(६)

दूसरे दिन मैं अपने निवास-स्थान पर लौट आई। दिन में मैंने दो बार खबर मँगाई, रामनारायण का कोई संवाद न मिला। घर में बड़ी उद्विग्नता फैल गई। पद्मा ने शंकित होकर मुझे लिखा—

"दीदी, कुछ देर के लिये घर आओ।"

मुझे जाना पड़ा।

रामनारायण जाते समय अपना पता दे गए थे। उसी पते पर तार देने से जाना गया कि वे वहाँ नहीं गए। उनके छोटे चाचा ने अपने बड़े भाई का एक पत्र पाया—"रामनारायण कहाँ है? उसने मुझे लिखा है कि 'हम सदा के लिये घर छोड़कर जा रहे हैं, मुरला को तुम देखना।' यह क्या हुआ?" उन्होंने लिखा था कि रामनारायण के पत्र ने मेरी पुरानी वेदना को फिर जगा दिया! रामनारायण के पिता मरते समय पुत्र और कन्या का भार मुझे ही दे गए थे। पत्र के कुछ और शब्द ये थे—"रामनारायण की बात से मुझे ऐसा भासित हो रहा है कि मानो मेरे स्वर्गीय भाई परलोक से मेरा तिरस्कार कर रहे हैं। मेरे रहते हुए घर में कोई ऐसी असह्य वेदना मिली कि जिसके कारण रामनारायण यौवन में संसार-त्यागी हो गया!" अपराध उन्हीं का था, वे उस प्रकार से कहाँ देख-भाल कर सके थे!

अब संदेह न रहा, निश्चय हो गया कि रामनारायण ने सचमुच घर छोड़ दिया। हम लोगों के माथे पर मानो आकाश टूट पड़ा। रामनारायण ने भी किसी दिन न अनुभव किया था कि उनके ऊपर उनकी माता का स्नेह अधिक था किंतु अब उनकी माता ने मातृस्नेह की बाढ़ दिखलाकर पद्मा को सर्वनाश का कारण बताया, वह पद्मा के साथ जैसा व्यवहार करने लगी, उसे स्मरण आने पर आज भी आँसू रोकना दुस्साध्य हो जाता है। बात-बात में उसका तिरस्कार होने लगा।

रामनारायण के बड़े चाचा विदेश से साज़-सामान उठा-

कर घर लौट आए। उन्होंने मुरला को छाती से लगा लिया ; किंतु पद्मा को रामनारायण के संबंध में निर्दोष न समझ सके। वे प्रायः सोचा करते—

"आख़िर घर आया, जो दो दिन पहले लौटता ! न जाने उसने कितना कष्ट पाया और अब पा रहा होगा !"

बड़ी माँ मुँह पर पद्मा को कुछ न कहतीं। किंतु पद्मा को चाचा और बड़ी माँ की वेदना का मौन-तिरस्कार, सास के कुव्यवहार से भी अधिक कष्टकर जान पड़ने लगा। चाचा ने घर आकर मानो अवहेलना के अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिये ही गृहस्थी का सब भार अपने ऊपर ले लिया, इसका परिणाम यह हुआ कि पद्मा पर सास के तिरस्कार की मात्रा प्रकट में कम हो गई।

पद्मा यह सब वेदना सहन कर सकती थी। वेदना के असहनीय हो उठने की संभावना उसे जिस ओर से थी, उस ओर वह सतर्क रहने की प्राणपण से चेष्टा करती आ रही थी। जिस पर उसने अपना स्नेह लगाया था, जिसको भरपूर अपना बनाने के लिये स्वामी तक को खो दिया, वही कन्या पराई-सी हो गई ! अपनपौ किसी ने तोड़ा नहीं, मुरला अपने आप स्नेह-शून्य पराई-सी बन गई। पिता पर मुरला का जो प्रेम था, वह भक्ति में रूपांतरित हो गया। वह भी पिता के गृह-त्याग का कारण माता को समझने लगी। माता से अपनपौ टूटने का एक तो यही कारण था और दूसरा कारण था परिवार की वायु का माँ के स्नेह के अनुकूल न होना। सभी कहते, पद्मा के ही कारण रामनारायण घर छोड़ गए।

केवल इतना ही नहीं, बालिका की अवस्था ने पद्मा को

और भी चिंतित कर दिया। रामनारायण के जाने के बाद से मानों उसकी प्रकृति ही बदल गई—बालसुलभ चपलता और आनंदप्रियता के स्थान पर अस्वाभाविक गंभीरता और विषाद ने अधिकार कर लिया। उसने खेलना छोड़ दिया। बहुधा वह अकेले बैठे रोया करती। समय समय पर वह पास या दूर में किसी का बोल सुन कर चौंक पड़ती, समझती कि रामनारायण का बोल है, किंतु दूसरे ही क्षण समझ की भूल जान कर एक आह भरी साँस लेती। उसकी शारीरिक वृद्धि भी मानों रुक गई। रामनारायण के बड़े चाचा और बड़ी माँ उसको न जाने कितने आदर और प्यार से रखते किंतु एक दिन भी उसने कोई वस्तु लाने को उनसे न कहा। एक दिन बड़ी माँ की बात का उत्तर देते हुए उसने कहा—

"जिसके पिता नहीं उसको दुलार करना क्या शोभा देता है?"

पद्मा यह बात सुन कर उस दिन, दिन भर रोती रही।

आजकल रोना ही पद्मा का काम रह गया है। जिसका जीवन वेदनामय हो रहा हो, आँसुओं को छोड़ कर और उसके पास क्या है? वेदना के झरने से टपके हुए आँसू यातना की तरल आग के समान होते हैं!

ऐसे ही दुख में पद्मा दिन काट रही है। दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष उसका दुःख देखते हैं और चले जाते हैं। उसके हृदय में प्रेम की भी वेदना है और स्नेह की भी। कितनी बार मैंने उसको कुछ दिन के लिये कहीं दूसरे स्थान में ले चलने की चेष्टा की, किंतु वह कहीं नहीं जाती, कहती है—

"मेरे पाप के कारण जिस मंदिर से देवता अंतर्धान हो गया है, उसी शून्य मंदिर में वेदना, यातना और तिरस्कार के काँटों को छाती में लेकर मुझे प्रायश्चित्त करते रहना चाहिये। भाग्य की ओर से मुझको यह दंड मिलता है, मैं इससे छुटकारा कैसे पा सकती हूँ!"

पद्मा के हृदय से अब संदेह का अंधकार दूर हो गया है उसने अब रामनारायण के प्रेम के स्वरूप का परिचय पाया है। जिस प्रेम की उसने अवहेलना की थी उस प्रेम को उसने अब समझा, उसने समझा, 'वह प्रेम नहीं अमृत है, हाय, मैंने अवहेलना करके उसे क्यों फेंक दिया?

इस दुःख के साथ कन्या के लिये भी वह कम व्यग्र नहीं है, यह भी उसका कर्म-फल है। तभी तो एक और दुःख ने उत्पन्न होकर पहले दुःख को बढ़ा दिया।

उसके दुःखों का कब अंत होगा? कब उसके अपराधों का प्रायश्चित्त पूरा होगा? उसने भूल की थी, किंतु इतने दिन दुःख पाने पर भी क्या उसके भ्रम का प्रायश्चित्त नहीं हो पाया? इतना दीर्घकाल बीता, हम लोगों ने रामनारायण का कोई पता न पाया। किंतु इस बार हम लोगों की आशा को अवलंब मिला है। रामनारायण से फिर भेंट होगी और पद्मा अपनी भूल समझने का सुयोग पावेगी—क्या यह आशा पूरी न होगी?

डाक्टर सुंदरलाल का अंतिम कथन ।

(१)

रामनारायण के हृदय का दाह-विवरण मेरे द्वारा आरंभ हुआ था, मुझी को उसे समाप्त करना होगा ।

मुरला चली गई । वह दिल्ली में बहुत थोड़े दिन रही, किंतु उतने ही दिनों में वह हम लोगों को स्नेह-बंधन में बाँध गई । इसीलिये उसकी काकी के साथ उसका पत्र-व्यवहार चलने लगा । पत्र आने में यदि विलंब हो जाता तो मेरी स्त्री घबड़ा उठती ।

कई महीने बाद रामनारायण के बड़े चाचा का पत्र मिला, मेरे परामर्श के अनुसार उन्होंने मुरला के विवाह का आयोजन किया था, कई बातें थीं जिनमें वे मेरी सम्मति लेना चाहते थे, मैं उनके बुलाने की उपेक्षा न कर सका । मैं देश जाऊँगा । इतने दिनों से देश नहीं गया था, जाने की इच्छा भी न थी क्योंकि वहाँ से दुःख की स्मृति लेकर मैं आया था, किंतु इस बार जाऊँगा । मेरी स्त्री ने भी चलने की इच्छा प्रकट की । देश में मेरे दुःख की स्मृति जड़ी हुई है, यह सोचकर वह भी इतने दिनों से, अपने आत्मीय और स्वजनों के दर्शन-सुख से अपने को वंचित किये हुए थी । स्त्री सहित मैंने देश आने का निश्चय किया । मैंने छुट्टी ली ।

मेरे देश आने पर मुरला के विवाह के लिये रामनारायण के बड़े चाचा ने मेरे साथ परामर्श किया । मैंने कई पात्रों में से एक पात्र चुना । वर जैसा रूपवान् था वैसा ही गुणवान् भी । विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण होकर नौकरी करने की चेष्टा में था, घर में माँ को छोड़-

कर उसके और कोई न था। रेल में एक बड़ी नौकरी खाली थी। आफिस में जो बड़े साहब थे, वे जब बड़े न हुए थे, मैंने अस्त्र-चिकित्सा करके उनकी प्राण-रक्षा की थी। मैंने जब उनसे अनुरोध किया तो वे मेरे अनुरोध को टाल न सके; मैंने जिसके लिये अनुरोध किया था, उसको नौकरी देने का उन्होंने वचन दिया। इसलिये इस वर के साथ मुरला का विवाह-संबंध स्थिर होने में विलंब न लगा।

रामनारायण के बड़े चाचा के अनुरोध से हम दोनों को मुरला का विवाह हो जाने के समय तक देश में रहना पड़ा।

इन्हीं दिनों में मेरी स्त्री से रामनारायण के घर की स्त्रियों के साथ परिचय हुआ। एक दिन मेरी स्त्री ने रामनारायण की माता के संबंध में कहा—

"वह तो दिन रात झाँय-झाँय किया करती हैं। ऐसा पुत्र घर छोड़कर बे पता हो गया—फिर भी उनकी झाँय-झाँय में कमी न हुई। और बहू की निंदा! मानों वर्षा की नदी में बाढ़ आती हो!"

मैंने पूछा—

"रामनारायण की पत्नी कैसे है?"

उसको देखकर तो दुःख होता है, कैसी भूलकर डाली है!"

मैंने कहा—

"न समझ सकने के कारण भूल हो गई है?"

"समझी क्यों नहीं?"

मैंने हँसकर कहा—

"तुम्हारी सी बुद्धि न थी।"

"पुरुषों में यह बुद्धि न हो तो भी काम चल जाता है

क्योंकि वे जो कुछ करते हैं उनको वह फब जाता है, किंतु हम स्त्रियों के लिये यह बात नहीं । जो, लता के समान सहारा न पाकर माटी में लोटती हैं उनको लता के समान ही नरम भी होना चाहिये । मान कहो, और चाहे उसे अभिमान कहो जहाँ तक वह सहनीय है, वहीं तक वह अच्छा है, उसके बढ़ जाने से सर्वनाश हो जाता है । जहाँ मान, मान नहीं रहता वहाँ वह मान अपमान हो जाता है ।"

"किंतु यह समझने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है ।"

"स्वामी के रहते हुए सास का जो व्यवहार असत्य समझ पड़ा था—अब उससे दश गुना कुव्यवहार सहना पड़ रहा है । जो अपना बल है, जब उसी को खो दिया तब और क्या रहा ?"

"कन्या में भी उसके लिये ममता नहीं है ।"

"ममता न होने पर भी, इतने दिन से उसे छाती से तो लगाये थी, अब वह पराये घर चली । अब किसके सहारे, कैसे जियेगी ?"

कहते-कहते रामनारायण की अभागिनी पत्नी का दुःख स्मरण करके मेरी पत्नी के नेत्रों में आँसू भर आये ।

देश में आकर मैं दादा के दामाद के घर गया था । मेरे द्वारा अब स्वार्थ-हानि की कोई संभावना न थी इसलिये घर की मालकिन ने बड़ी आत्मीयता प्रकट की । कहाः—

"तुम आकर अलग रहे—यह क्या अच्छा देख पड़ता है ? क्या करूँ, घर छोटा है, भानु के लड़के बालों के लिये ही जगह पूरी नहीं पड़ती नहीं तो मैं छोटी बहू को ज़ोर करके पकड़ लाती । और न था तो गरीब के घर में गरीब की दो रोटियाँ तो खाने को थीं ।"

दादा की कन्या भानुमती ने ऊपर की सी बातें न कीं, किंतु हृदय से आदर का भाव दिखाया। उसके आंतरिक सत्कार से मुझे संतोष हुआ। उसके पुत्र, पुत्रियों को देखकर दादा की याद आ गई, वे आज यदि जीवित होते तो इन सब को देखकर उनको न जाने कितना आनंद होता। और क्या मेरा यहाँ आकर अलग रहना होता? मैं जन्म-भूमि के साथ क्या इस प्रकार संपर्क-शून्य हो सकता?

और माँ—वे मेरे लिये उद्वेग, आशंका और कष्ट भोगते भोगते स्वर्ग सिधारीं। वे मेरी सफलता का आनंद न देख सकीं, चली गईं; उनके साथ ही मेरा देश का संबंध भी क्षीण हो गया। अब और कौन आकर्षण था जो मुझे उधर खींचता?

(२)

नौकरी पर लौट आने के बाद रामनारायण के बड़े चाचा की चिट्ठियों से मुरला का संवाद मिलने लगा, उससे मैंने समझा कि मेरा अनुमान ठीक निकला। नवीन जीवन में प्रवेश करके, प्रेम का पारस छूने से मुरला का हृदय रूपांतरित हो गया है। उसका विषाद भाव दूर हो गया—शरीर में जैसे, मन में भी वैसे ही नवीन सौंदर्य और लावण्य विकसित हुआ है, जानकर सुखी हुआ।

हम—स्वामी स्त्री—प्रायः मुरला की चर्चा किया करते। एक दिन मैंने कहा—

"रामनारायण यदि फिर एक बार लौट आता तो उसे संसारी बना देते। बेचारा कितने दुःख में जीवन काट रहा है।"

मेरी स्त्री ने कहा—

"और उसकी स्त्री—उसका दुःख तो और भी अधिक है।"

"अधिक?"

"हाँ, रामनारायण ने अपनी भूल अब भी नहीं समझी किंतु उसने अपनी भूल समझ ली है। उसका दुःख अब मान की वेदना का नहीं है, आत्मग्लानि की ज्वाला का है।"

"उसने अपनी भूल समझी?"

"अब भी न समझेगी? स्वामी को खोकर जब उसने जाना था, कि जीवन व्यर्थ हो गया तभी उसने अपनी भूल समझी थी। जिस घड़ी उसने यह बात समझ पाई थी कि उसका संदेह अकारण था उसी घड़ी उसे स्वामी के प्रेम का स्वरूप देख पड़ा था। उसके बाद यदि मन के किसी कोने में भूल का कोई अंश रह भी गया तो तुम्हारे द्वारा रामनारायण की सब बातें खुल जाने पर, चला गया। अब है उसके हृदय में केवल वेदना की आग और आत्म-ग्लानि के भभकते हुए अंगारे।"

इस प्रकार घर में प्रायः आलोचना होती। मेरी स्त्री मुरला का पत्र पाती, या मेरे पास रामनारायण के बड़े चाचा अथवा दामाद का पत्र आता तो इस प्रकार की आलोचना छिड़ जाती। धीरे-धीरे दो वर्ष बीत गये। इन दो वर्षों में रामनारायण के दामाद कार्य-वश दिल्ली में चार बार आये और मेरे ही पास ठहरे। वह भी हम लोगों में मिल से गये थे। स्नेह का विकास क्या संबंध देखकर ही होता है? स्नेह तो स्वयं संबंध की सृष्टि कर सकता है। बहुधा, पराया जिसे कहते हैं वह जितना अपना हो जाता है उतना वह अपना नहीं होता, जो अपना कहलाता है। इसका कारण यह है कि पराये के साथ में जो संबंध है वह शुद्ध प्रेम का संबंध है, उसमें स्वार्थ-हानि की शंका नहीं है और न ईर्षा की विकृति।

(३)

आधी रात हो चुकी थी। मेरे शयन-कक्ष का घंटा बज उठा। नींद टूट गई। मैं अस्पताल जाने के लिये उठा। ज्ञात हुआ कि कोई रोगी आया है, उसने हठ करके कहा है, डॉक्टर साहब को अभी ख़बर करो, रोगी उनका बंधु है। मेरा बंधु! अधीरता के साथ मैंने जाकर देखा, रामनारायण! इतने दिन जिसको पाने के लिये व्यग्र था, आज उसको पाकर मैं काँप उठा—रामनारायण के मुख पर मृत्यु की छाया फैल रही थी!

रामनारायण ने क्षीण स्वर में मुझसे कहा—

"तुमने मुझको नवीन जीवन का पता बताया था इसीलिये मरने से पहले एक बार तुम्हारे पास कृतज्ञता जताने आया हूँ।"

रामनारायण को पलँग पर लेटाकर मैंने रोग की परीक्षा—की डबल निमोनिया। फुस्फुस में जिस प्रकार की भयंकर पीड़ा उत्पन्न हो चुकी है, उससे बचने की कोई आशा नहीं। चिकित्सा में सफल होने की आशा बहुत कम थी, किंतु सेवा-सुश्रूषा से वह वंचित न हो, इसलिये खाट उठवाकर घर ले आया। मेरी स्त्री आकर खाट के पास बैठ गई, उसने मुझसे कहा—

"मुरला को और उसकी माँ को ख़बर दे दो। तार कर दो।"

दोनों जगह मैंने तार दे दिए।

जो लोग रामनारायण को लाए थे, वे उनके शिष्य थे। रामनारायण संन्यासी न थे और गुरु भी न थे फिर भी शिष्य जुट गए थे। चुंबक जैसे लोहे को खींच लेता है

ऐसे ही रामनारायण ने उनको अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। धीरे-धीरे मैंने सब हाल जाना। इन कई वर्षों में अनेक तीर्थों में जा-जाकर रामनारायण अनाथ और दुखियों की सेवा, चिकित्सा करते रहे। जान पड़ता है, इससे उनको शांति भी मिली, नहीं तो कृतज्ञता-ज्ञापन किस बात पर होता?

इस बार वह अमरनाथ गए थे, लौटती बार रास्ते में बीमार पड़ गए। मरने के पहले उन्होंने एक बार मुझ-से मिलने की इच्छा प्रकट की, इसलिये उनके गुण-मुग्ध भक्त उनको मेरे पास ले आए।

दूसरे दिन रोगी की अवस्था देखने से मैंने जाना कि अब जीवन की अवधि में केवल दिन गिनने को रह गए हैं, अब अधिक समय नहीं है। मैंने अपनी स्त्री के साथ परामर्श किया। उसने कहा—

"यदि जीवन की आशा नहीं है, तो अब विलंब न करो, सब बातें खोलकर कह दो। मरने के पहले रामनारायण अपनी भूल समझकर स्त्री को क्षमा करने का सुयोग पा जायँगे और वह—"

कहते-कहते रो पड़ी। उसने अपने को सँभालकर फिर कहा—

"और वह, वह यदि जान पावेगी कि स्वामी मरने के पहले उसके अपराध का स्वरूप समझ सके थे और उसे क्षमा कर गए हैं तो उसके जलते कलेजे में बहुत कुछ ठंढक पड़ सकेगी। अब और देर न करो।"

मैं जाकर रामनारायण के पास बैठ गया। उनको बोलने में अब कष्ट होता था। मैंने धीरे-धीरे सब बातें

उनको बताई। उनकी स्त्री की भूल, उस भूल के लिये उसका मनस्ताप, सब बातें जब मैं कहने लगा तो उनके मुख और उनकी दृष्टि में किसी प्रकार का भावांतर न देख पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि मानो वे अब आशा, निराशा पर विजय पा चुके हैं, उनका लक्ष्य अब इनसे परे हो चुका है।

अंत में जब मैंने प्रश्न किया—"इस दशा में अब तुम अपनी स्त्री को क्षमा कर दोगे?" तब उन्होंने क्षीण कंठ से अस्पष्ट स्वर में उत्तर दिया—"मैंने तो न-जाने कितने दिन हुए, क्षमा के गंगा-जल में मान और अपराध की मलिनता धो डाली है। मैं भी तो अपराधी हूँ।"

इसके बाद जब मैं मुरला की चर्चा करने लगा तो रामनारायण का वह निर्विकार भाव न रहा। शांत सरोवर चंचल हो उठा। मुरला की उदासीनता और विषाद का विवरण करके जब मैंने कहा, दांपत्य-जीवन में अब वह सुखी हुई है, तब रामनारायण मानो निश्चित हुए। एक लंबी साँस के साथ उनके हृदय की चंचलता का अंत हो गया। तब मैंने कहा—

"उनको तार देकर बुला लूँ?"

रामनारायण ने असम्मति जताकर कहा—

"अब किस लिये?"

किंतु मैंने जब कहा, "मैंने अपनी स्त्री की राय से तार दे दिए हैं" तब रामनारायण ने फिर और कोई बात न कही। एक बार सुश्रूषा-निरत मेरी स्त्री की ओर देखा और फिर आँखें बंद कर लीं।

(४)

दूसरा दिन आया, अब जीवन की अवधि में केवल

घंटे ही शेष देख पड़े। रामनारायण का बोल बंद हो गया। मैं उद्विग्न होने लगा, रामनारायण को न बचा सका! जिनको बुलाया है उनकी रामनारायण के साथ क्या अंतिम भेंट भी न होगी? मेरा उद्वेग, जान पड़ता है, अब मेरे व्यवहार में झलक आया था, उसे देखकर रामनारायण के मुख पर म्लान हँसी आ गई, उस हँसी में जगत् के सब बंधनों और मानव-दुर्बलता का उपहास था!

दिन बीता, संध्या भी आई और चली गई, आधी रात को ट्रेन के आने का समय था, मेरी आँखें बार-बार घड़ी पर गिरती थीं और फिर रामनारायण की अवस्था पर।

रामनारायण की स्त्री को साथ लेकर उनके बड़े चाचा आ गये। किंतु मुरला? मैंने अधीर होकर उनसे मुरला को पूछा। डाकगाड़ी पीछे छूटने पर भी दिल्ली पहिले पहुँचती है, रामनारायण के बड़े चाचा इसी ट्रेन से आये। किंतु मुरला से विलंब सहन न हो सका जो ट्रेन उसे पहिले मिली, उसी से वह चल पड़ी। तार पाकर माँ की उसने राह न देखी, तत्काल रवाना हो गई। रामनारायण के चचेरे बड़े भाई उसको देखने, उसके घर गये थे। तार पाकर वह उन्हीं के साथ चली आई। वह ट्रेन दिल्ली में सबेरा होने के बाद पहुँचेगी, मैंने एक लंबी साँस ली, अभी सात घंटे हैं।

रामनारायण की देह-जीवनी-शक्ति अत्यंत द्रुतवेग से अंतर्हित हो रही थी। औषधि देकर क्या इस गति को शिथिल किया जा सकता है? तो भी मैंने चेष्टा की। मैंने सोचा कि औषधियों के बल पर ज्ञान लुप्त होने से पहिले ही स्त्री और कन्या से भेंट कराऊँगा।

रात बीत गई, अब विलंब का अवसर न था, मैंने रामनारायण से कहा—

"तुम्हारी स्त्री तुम को देखना चाहती है।"

रामनारायण ने संकेत से जताया—

"व्यर्थ है!"

मेरी स्त्री उनके मुख में उत्तेजक औषधि डाल रही थी, उसने कहा,—

"मैं यह भिक्षा माँग रही हूँ, नाहीं न करो।"

रामनारायण ने फिर कोई आपत्ति न की, कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से एक बार उसकी ओर देखा और संकेत से अपनी सम्मति सूचित कर दी।

मेरी स्त्री उठकर रामनारायण की स्त्री को ले आई। मैं रोगी की नाड़ी पकड़ कर बैठ गया; कौन जाने मानसिक चंचलता के वेग से क्या हो जाय!

रामनारायण की स्त्री आकर, पति के चरणों के पास बैठ गई—आज कितने दिनों की कितनी असीम व्यथा हृदय में जग उठी—आज स्वामी को उसने पाया किंतु केवल खोने के लिये! छाती फटने लगी और व्यथा के आँसू रामनारायण के चरणों पर गिरने लगे!

रामनारायण ने आँखें मूँद लीं। एक दिन उन्होंने मुझ से कहा था कि उनको भगवान् पर विश्वास नहीं है। अंतिम समय तक वह अपने उस मत से विचलित हुए या नहीं, कौन जाने, पर उस समय ऐसा जान पड़ा कि मानो वह जप कर रहे हैं।

उसी समय कंपित कातर कंठ से "पिता" पुकार कर वायु वेग से मुरला ने कमरे में प्रवेश किया। मैंने घूमकर

देखा, रामनारायण ने भी उसकी ओर आँखें फेरीं, मैंने कहा—

"मुरला !"

मुरला पिता की छाती में मुँह लुकाकर रो उठी। रोगी की क्षीण गति नाड़ी में चंचलता आ गई। रामनारायण ने बोलने की चेष्टा की पर, बोल मुँह से न फूटा! उन्होंने निस्तेज देह की समग्र शक्ति संचित करके हाथ उठाकर मुरला के माथे पर फेरा, आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़े। वेदना के झरने से टपके हुये उन दो अश्रु बिंदुओं द्वारा रामनारायण के हृदय-श्मशान की ज्वाला बुझी कि नहीं—कौन बता सकेगा ?

× × ×

इसके बाद—इसके बाद सब समाप्त हो गया! जिस निर्गंधुधि श्मशान में खड़े हो एक दिन रामनारायण ने मृत्यु को ही मुक्ति समझा था उसी श्मशान में उसका शव जलाकर जब मैंने चिता में जल दिया तो मेरे मन में विचार उठा—

"दग्ध प्राण शीतल हो जावें, ढालो शांति-सलिल लोगो।
जिसको खोजा था जीवन भर, बंधु उसे ले सुख भोगो॥"

श्मशान से जब घर लौटा, देखा मुरला अपनी काकी की गोद में मुँह छिपाये रो रही है। रामनारायण की पत्नी पाषाण-प्रतिमा के समान बैठी है, मानो उसे बाह्य-ज्ञान ही नहीं है। आँखों में आँसू नहीं हैं और न मन में किसी भाव का विकास है—उसकी दशा देखकर मैं अपनी शंका संवरण न कर सका!

समाप्त।

पुस्तक का सार और शिक्षा

"पति और पत्नी में परस्पर खिंचे रहने के कारण जो चिंता की आग उत्पन्न होती है वह गार्हस्थ्य शान्ति को जला कर खाक कर देती है और हृदय-श्मशान में सुख-शव को भस्म किया करती है।"

कात्यायनीदत्त त्रिवेदी ।